

निबंध सागर

पाठ्य पुस्तक

B.C.A./B.Sc. (FAD) = Ist Semester

बी.सी.ए. / बी.एस.सी(फ्याड)
– प्रथम सेमिस्टर



सम्पादक
डॉ. सुर्यवंशी डी.पी.
श्रीमती. मालती.ए.एम



प्रसारांग
बैंगलूर विश्वविद्यालय
बैंगलूरु – 560056

NIBANDH SAGAR : Edited by Dr. Suryavanshi D.P & Smt. Malathi. A.M
Published by Prasaranga, Bangalore University, Bengaluru - 560056
Pp. 80 + III

© बैंगलूरु विश्वविद्यालय
प्रथम संस्करण – 2021

प्रधान संपादक
डॉ. शेखर

मूल्य :

प्रकाशक एवं मुद्रक
डॉ. गंगाधर
प्रसारांग
बैंगलूरु विश्वविद्यालय
बैंगलूरु – 560056

भूमिका

बेंगलूर विश्वविद्यालय 2021–2022 शैक्षिक वर्ष से
एनईपी – 2020 पद्धति के अनुसार स्नातक वर्गों के लिए नया
पाठ्यक्रम जारी किया जा रहा है।

इस पाठ्यक्रम की संरचना ऐसी की गई है कि इसके
अध्ययन के पश्चात हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी यह जान सके कि
साहित्य का विश्लेषण कैसे किया जाए – इसकी सराहना कैसी की
जाए और दिए गए पाठ को पढ़ने की समझ किस प्रकार विकसित
की जाए ताकि विद्यार्थी भाषा और साहित्य के उद्देश्य से भली
भाँति परिचित हो सके। जैसे विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन के
साथ यह भी अधिक उपयोगी है। विश्वविद्यालय की यह शुभेच्छा है
कि साहित्य और समाज शास्त्रीय विषयों के लिए भी अधिक
उपयोगी और प्रासंगिक लगे। एनईपी सेमिस्टर पद्धति के अनुसार
पाठ्यक्रम निर्माण किया गया है।

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी अध्ययन मण्डल ने विभागाध्यक्ष डॉ.
शेखर के मार्गदर्शन में पाठ्य पुस्तक का निर्माण किया है।

सम्पादक मण्डल का विश्वास है कि यह निबंध संकलन
छात्र समुदाय के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। इस पाठ्य
पुस्तक के निर्माण में योग देने वाले सभी के प्रति विश्वविद्यालय
आभारी है।

इस संकलन को अल्प समय में सुन्दर रूप से छापने वाले
प्रसारांग और मुद्राणालय के निदेशक डॉ. बी. गंगाधर तथा वहाँ के
कर्मचारियों के प्रति भी हम आभारी हैं।

डॉ. के. आर. वेणुगोपाल
कुलपति
बेंगलूर विश्वविद्यालय

प्रधान संपादक की कलम से

बैंगलोर विश्वविद्यालय 2021–2022 शैक्षिक क्षेत्र में नये – नये विषयों को अपने अध्ययन की सीमा में ले रहा है। अध्ययन को नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयत्न हो रहा है। साहित्यिक विषयों को आज की बदलती परिस्थिति के अनुसार रखने के उद्देश्य से पाठ्क्रम को प्रस्तुत किया जा रहा है।

एन.ई.पी. पद्धति के अनुसार स्नातक वर्गों के लिए पाठ्क्रम का निर्माण किया जा रहा है। इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में योग देने वाले सम्पादकों के प्रति मैं आभारी हूँ।

इस नयी पाठ्य पुस्तक के निर्माण में कुलपति महोदय डॉ. के. आर. वेणुगोपाल जी ने अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के प्रकाशक प्रो. बी. गंगाधर निदेशक, प्रसारांग और मुद्रणालय के सभी कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

**डॉ. शेखर
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग**

प्रकाशक की बात

बैंगलूर विश्वविद्यालय ने स्नातक वर्गों के लिए जो एनईपी सेमिस्टर पद्धति लागू किया है, उसके अनुसार हिन्दी अध्ययन मण्डल ने अपने विभागाध्यक्ष के नेतृत्व में पाठ्य पुस्तक का निर्माण किया गया है।

पाठ्य पुस्तक को समय पर तैयार करने में हिन्दी अध्ययन मण्डल के सदस्यों का अथक प्रयास सराहनीय है, अतः उनके प्रति मैं आभारी हूँ।

विश्वविद्यालय की ओर से पाठ्य – पुस्तकों को प्रकाशित कराने में कुलपति डॉ. के. आर. वेणुगोपाल जी ने अतीव उत्साह दिखाया है, तदर्थ मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इस पुस्तक को सुन्दर रूप से छापने वाले मुद्रणालय कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

**डॉ. बी. गंगाधर
निदेशक
प्रसारांग और मुद्रणालय**

अनुक्रमणिका

01	आनंद के क्षण कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	01
02	वैशाली आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी	10
03	जीवन में साहित्य का स्थान प्रेमचन्द	23
04	अलोपी महादेवी वर्मा	36
05	घायल वसन्त हरिशंकर परसाई	53
06	पीछे मत फेंकिये बाल मुकुंद गुप्त	62
07	जीवन अपनी देहरी पर विद्यानिवास मिश्र	70

आनंद के क्षण

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

लेखक परिचय

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (1906–1995) हिन्दी के यशस्वी गद्य-लेखक, पत्रकार और शैलीकार हैं। इनका जन्म सन 1906 ई. में उत्तरप्रदेश के सहारनपुर जिले के देवगढ़ ग्राम में हुआ था। संस्कारपूर्ण एंव परिवार में पलकर भी प्रभाकर जी प्रगतिपरक विचारों के पक्षधर थे। किशोरावस्था में ही पढ़ाई छोड़कर उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया और अनेक बार जेल भी गये। गाँधीवादी विचारधार के समर्थक मिश्र जी ने सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध में समाज-सेवा का बीड़ा उठाया। सहारनपुर के संस्कृत विद्यालय में कुछ समय तक अध्यापन का कार्य करने के पश्चात इन्होंने 'विकास, ज्ञानोदय, नया जीवन' इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन कार्य शुरू किया। इनकी साहित्य-सेवा के उपलक्ष्य में मेरठ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी.लिट की मानद उपाधि से सम्मानित किया है।

ललित निबंधों के अलावा रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्टज तथा लघु कथा के क्षेत्रों में भी प्रभाकर जी का सराहनीय योगदान रहा है। इनके निबंधों में सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक जीवन के विस्तृत अनुभवों का सरस एंव संशिलष्ट चित्रों का अंकन हुआ है।

एक साहित्यकार की चिन्तन-प्रक्रिया तथा एक पत्रकार की लेखन-शैली से समाहृत विशिष्ट शैली के कारण प्रभाकर जी को 'शैलियों का शैलीकार' कहा गया है।

प्रमुख रचनाएँ : जिन्दगी मुस्कुरायी, माटी हो गई सोना, बाजे पायलिया के घुंघुरू, नई पीढ़ी, नए विचार (ललित निबंध) क्षण बोले; कण मुस्काए(रिपोर्टाज), दीप जले, शंख बजे(संस्मरण), भूले हुए चेहरे (रेखाचित्र) आदि।

निबंध संग्रह : आनंद के क्षण, जिन्दगी मुस्काई(संकलित) है।

एशिया के प्रसिद्ध जीवन-शास्त्री का कहना है कि जिन्दगी संघर्ष से भरी हुई है। एक के बाद एक खींचतान लगी ही रहती है और चैन नहीं मिल पाता, इसलिए जीवन में उन क्षणों की बहुत कीमत है, जो जीवन के गुद्गुदा दें और खींचतान की तेजी को भूला दें।

इस जीवन-शास्त्री ने लोगों को एक बड़ा दिलचस्प मशावरा दिया है कि जब तुम अपने किसी मित्र-दोस्त से बात करने बैठो, तो घड़ी का मुँह दीवार की तरफ कर दो।

जब उनसे पूछा गया कि बातचीत का और घड़ी का क्या संबंध, तो उत्तर मिला कि वह कंबख्त याद दिलाती रहती है कि इतनी देर हो गई-इतनी देर हो गई और इस तरह आनंद का वह क्षण खंडित हो जता है, जो मित्र की बातचीत से मिलता है।

इसी विद्वान के जीवन का एक संस्मरण बहुत मजेदार

है। उनके देश के राष्ट्रपति ने अपने देश में शिक्षा के प्रचार पर विचार करने के लिए एक विदेशी विद्वान को बुलाया। निश्चय हुआ कि राष्ट्रपति जी चार बजे शाम को उनसे बातें करें और उस बातचीत में ये महाशय भी उपस्थित रहें जो घड़ी का मुँह दीवाल की तरफ करने का मशावरा देता है। इसकी सूचना इन्हें दी गई और इनसे चार बजे आने की स्वीकृति ले ली गई।

ठीक चार बजे वे विदेशी विद्वान राष्ट्रपति भवन पहुँच गए और राष्ट्रपति तो वहाँ थे ही, पर तीसरे महाशय कहाँ हैं? सवा चार बज गए और चाय आ गई पर वे नहीं आए। लो ये बज गए साढ़े चार और तब भी वे लापता। राष्ट्रपति का सेक्रेटरी उनके घर गया तो पता चला कि वे तो तीन बजे ही राष्ट्रपति भवन चले गए थे।

सेक्रेटरी जब उनके घर से लौट रहा था, तो वे बाजार में उसे मिले। वे बाजार में क्या कर रहे थे। राष्ट्रपति भवन में एक विदेशी विद्वान से सलाह करने के मुकाबले वह कौन सा जरूरी काम था, जिसे वे बाजार में कर रहे थे।

‘जी? क्या देख रहे थे वहाँ बाजार में?’

जी कुछ नहीं और किया भी कुछ नहीं। न भौंचक होने की जरूरत है न विस्मय—विमुग्ध। बात एकदम साफ है कि वे बाजार में कबूतरबाजी का मैच देख रहे थे।

आपका जी चाहे, तो आप नाक—भौंसिकोड़ सकते हैं। उनके नाम पर कुछ सकते हैं। राष्ट्रपति ने भी कबूतर देखने की बात सुन कर यही किया था, पर एक बात पहले ही बता दूँ आपको कि तब आपका भी वही हाल होगा, जो उनका उत्तर सुनकर राष्ट्रपति का हुआ था। तो सुन लीजिए वह उत्तर

राष्ट्रपति ने अपने देश की भाषा में जब उनसे कहा कि क्या कबूतरों का मैच देखना इस राष्ट्रीय काम से ज्यादा जरुरी था तो वे बोले, 'यह ज़रुरी और बेज़रुरी का या बढ़िया-घटिया का सवाल नहीं है, यह तो आनंद का प्रश्न है। यह काम बहुत ज़रुरी है, मैं यह बात मानता हूँ, पर अचानक जीवन में आनंद का गुद्गुदाने वाला जो क्षण आ गया था मैं भला उसकी उपेक्षा कैसे कर सकता था राष्ट्रपति महोदय?'

सुनकर राष्ट्रपति को हँसी आ गई। आप भी अब हँस सकते हैं, पर इस विद्वान की बात से इनकार नहीं कर सकते कि संघर्षों और खींचातानियों से भरी घड़ियों में जीवन को गुद्गुदाने वाले क्षणों का बहुत महत्व है और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

गुरुदेव रविन्द्रनाथ ठाकुर की चप्पल की कील उखड़ी हुई थी। समय की बात, उस पर उनका ध्यान नहीं गया और वे उसे ही पहने हुए एक सभा में भाषण देने चले गए। कील पैर में चुभती रही और खून रिसता रहा, पर उनके भाषण का प्रवाह बहता रहा। वे भाषण देकर मंच से उतरे तो लोगों ने देखा कि चप्पल में काफी खून लगा है।

किसी ने कहा, 'जब कष्ट हो रहा था, तो आप रुके क्यों नहीं?' ।

गुरुदेव ने उत्तर दिया, 'सब बंधु भाषण सुनकर आनंद ले रहे थे और मैं सबको आनंद परसने का आनंद ले रहा था। ऐसे क्षण में मैं दुन्ख की ओर ध्यान देता, तो वह क्षण खंडित हो जाता।' वही बात कि जीवन को गुद्गुदाने वाले कुछ क्षण भी जीवन में महत्वपूर्ण हैं।

इन क्षणों का कोई समय नहीं होता और इन क्षणों को

जन्म देने का कोई निश्चित तरीका—प्रकार भी नहीं है। समालोचक प्रवर आचार्य श्री रामचंद्र शुक्ल बहुत गंभीर विद्वान् थे और कवि सम्मेलनों में अपनी कविता बाँचने के स्वर में पढ़ा करते थे, उसे गाते ना थे, पर उनके एक मित्र अपनी कविता खूब गाकर पढ़ा करते थे।

एक कवि सम्मेलन में दोनों साथ गए। जब शुक्ल जी अपनी कविता आरंभ करने लगे, तो उनके मित्र जोर से बोले, 'अब आप असुर की कविता सुनिए।' असुर का अर्थ बिना सुर की भी और असुर का अर्थ राक्षस भी। बड़ी सीधी छोट थी, पर बड़ी सधी हुई छोट थी। शुक्ल जी उस छोट को सह गए, तरह दे गए, पर जब वे मित्र कविता पढ़ने खड़े हुए तो शुक्ल जी ने खूब जोरदार स्वर में कहा, 'आप लोग असुर की कविता तो सुन ही चुके, अब ससुर की कविता सुनिए।'

असुर की तरह ससुर के भी दो अर्थ हैं। पहला सुरसहित और दूसरा श्वसुर—ससुरा जो एक संबंध भी पर, एक गाली भी। सारी सभा हँसते—हँसते लोट—पोट हो गयी और उसी क्षण ने सभी के जीवन को गुदगुदा दिया। इस आनंदमय क्षण को जन्म देने का काम बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से प्रयोग किए एक शब्द ने ही तो किया, पर यह कोई नियम नहीं है कि बुद्धिमत्तापूर्ण शब्दों के प्रयोग से ही ऐसे क्षण का जन्म हो। अनेक बार बुद्धिहीन शब्दों से भी गुदगुदाने वाले क्षण का जन्म होते देखा गया है।

प्रसिद्ध अभिनेत्री ग्रेस केली जनवरी में माँ बनने वाली हैं। पत्रों में यह समाचार छपा।

एक परिवार में वह समाचार पढ़ा गया और उस पर चर्चा हुई, तो दस वर्ष की एक लड़की ने अपने माँ से पूछा,

‘माँ, ग्रेस केली को यह कैसे पता चला कि जनवरी में उनका बच्चा होने वाला है?’

माँ चिन्ता में पड़ गई कि बच्ची को क्या जवाब दे, पर तभी की छोटी लड़की जिसकी उम्र पाँच-छ साल की थी, चटाल से बोली ‘वाह, सब पत्रों में यह समाचार छपा है, तो क्या केली को पढ़ना नहीं आता।’

कितने अबोध बोल थे ये, पर इन्होंने एक ऐसे क्षण को जन्म दिया, जिसने बहुत दिनों तक उस परिवार के जीवन को गुदगुदाया और आज भी हमारे मन को गुदगुदा देता है।

व्यंग्य बुरी चीज है, इसलिए उसे मुहावरे में व्यंग्य-बाण कहा गया है, पर वह भी हमारे जीवन को गुदगुदा देता है – बिल्कुल उसी तरह, जैसे चतुर वैद्य विष से भी चिकित्स का काम ले लेता है। विश्वविरच्यात लेखक एच.जी. वेल्स की पुस्तक ‘शेप ऑफ थिंग्स टू कम’ पढ़कर एक घमंडी अभिनेत्री ने उन्हें पत्र लिखा, ‘पुस्तक मुझे बहुत पसंद आई, पर जनाब, यह तो बताइए कि यह आपने किससे लिखवाई थी?’

इसे पढ़कर वेल्स नाराज हो सकते थे और उस चिटठी को फाड़कर फेंक सकते थे, पर नहीं, उन्होंने इसका उत्तर दिया और उसमें लिखा, ‘आपको यह पुस्तक पसंद आई, धन्यवाद, पर यह बताइए कि यह पुस्तक आपको किसने पढ़कर सुनाई थी?’ मतलब यह कि आपकी राय में लेखक नहीं हूँ, पर मेरी राय में तो आप अनपढ़ भी हैं – इस लायक भी नहीं कि कोई पुस्तक बाँच सकें। जरा-सी सहिष्णुता और सरसता ने नाराजगी के क्षण को अपने लिए, उनके लिए और सबके लिए जीवन को गुदगुदानेवाला क्षण

बना दिया और घमंडी का सिर भी झुका दिया ।

महान लेखक श्री पद्मसिंह शर्मा और महान कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' साथ-साथ जा रहे थे। शर्मा जी, पतले-छरहरे, तेज-तरार और 'रत्नाकर' जी मोटे, भारी भरकम और रईस-मिजाज। तो शर्मा जी की चाल यों कि झपटते-से और 'रत्नाकर' जी की चाल यों कि हिलते-से दिखाई दे।

ऊबकर शर्मा जी ने कहा, 'रत्नाकर जी, आप भी क्या जनवासे जैसी चाल चलते हैं।'

उचित है कि 'रत्नाकर' जी यह सुनकर अपने मुटापे पर झेंप जाएँ और यह क्षण उदासी का क्षण बन जाए, पर 'रत्नाकर' जी झेंपे नहीं, बोले, 'मैं कोई डाक हरकारा तो हूँ नहीं कि जब चलूँ, भागता हुआ चलूँ।' इस उत्तर ने उस उदासी और झेंप के क्षण को गुद्गुदानेवाला क्षण बना दिया और दोनों ही महीन बालकों की तरह खिलखिलाकर हँस पड़े।

गांधीजी को उनके सब कार्यकर्ता बापू कहते थे, और उनके साथ बाप-जैसा ही बेतकुलुफ व्यवहार करते थे। बातों-बातों में एक दिन एक कार्यकर्ता को मजाक सूझी तो उसने कहा, बापू, आप गौओं की सेवा के लिए बहुत-से काम करते हैं और एक संस्था चलाते हैं, पर एक प्राणी गाय से भी अधिक निरीह है, लोग उसपर मनमाना अत्याचार करते हैं, उसे खाना भी ठीक से नहीं देते। वह है गधा। क्या आप उस बेचारे के लिए कुछ न करेंगे?

बापू बोले, 'तुम्हारी बात ठीक है। मैंने गौओं की सेवा के लिए गौ-सेवक-संघ की स्थापना की है। अब तुम गधा-

सेवक—संघ की स्थापना कर उसके महामंत्री बन जाओ, तो बहुत अच्छा हो। गांधीजी के प्रस्ताव पर सब लोग खिलखिलाकर हँस पडे और गधे की बात ने सबके जीवन को क्षण भर के लिए आनंद से गुदगुदा दिया। जी हाँ, गधे की बात ने!

अच्छा गधा—सेवक—संघ का मंत्री बनना तो फिर भी एक सार्वजनिक पद पाना है, पर किसी को गधा कहना और वह भी भरी सभा में कैसा है? जी, आपकी भी यही राय है कि यह घोर अपमान है, पर एक बार इस घोर अपमान में भी जीवन को गुदगुदाने वाले क्षण का जन्म हुआ था।

इंग्लैंड के प्रधान मंत्री मिस्टर लायड जार्ज एक सभा में अपने मंत्रिमंडल के कार्यों की तारीफ कर रहे थे। यह पहले महायुद्ध काल की बात है। उनके विरोधी एक श्रोता ने सभा में खड़े होकर पूछा, ‘मिस्टर लायड जार्ज, आप तो शायद वही हैं, जिनके पिता गधे की गाड़ी चलाया करते थे?’

हँसना अंग्रेजों का स्वाभाव है, तो लोग हँस पडे, पर तभी लायड जार्ज ने कहा, ‘दोस्तों, यह सवाल सही है। मेरे पिता वाकई गधे की गाड़ी चलाया करते होंगे, पर वह गाड़ी तो बिक गई है। हाँ, यह गधा अभी तक मौजूद है।

ओह, कुछ न पूछिए कि लोग किस तरह हँसे, किस तरह हँसे कि लायड जार्ज के बार—बार कहने पर भी हँसी के फव्वारे बंद न हुए और जलसा का जलसा, लोट—पोट हो गया।

अच्छा, हँसी और गुद्गुदी आवाजें तो आप काफी सुन चुके, अब तक ऐसी बात सुनिए कि जिसमें न शब्द है, न आवाज है, न हँसी की, फिर भी वह जीवन को गुदगुदाने वाले

क्षणों का सर्वोत्तम प्रतीक है।

इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मजिनी उन दिनों निर्वासित थे। एक दिन वे अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक कार्लैल से मिलने गए। कार्लैल ने बहुत आदर से उनका अभिनन्दन और स्वागत किया। इसके बाद वे अलाव के पास बैठ गए और चुपचाप कई घंटे तक बैठे रहे, कोई कुछ नहीं बोला।

जब मजिनी चलने के लिए उठे तो कार्लैल ने कहा, 'आज की शान्दार मुलाकात से बहुत आनंद और इस क्षणों की याद बहुत दिनों तक जीवन को गुद्गुदाते रहेगी।' क्या आपको भी भी जीवन को गुदगुदाने वाले ऐसे क्षणों का अनुभव हुआ है? और क्या ऐसे क्षण को जन्म देने की कला आप जानते हैं? नहीं तो अभ्यास कीजिए, क्योंकि घरेलू और सार्वजनिक जीवन को समृद्ध बनाए रखने के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है।

वैशाली

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

लेखक परिचय

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी (1907–1979) भारतीय संस्कृति के पुजारी, मानवता के सजग प्रहरी एंव लोकमंगल के उद्घोषक है। हिन्दी, संस्कृत, का पांडित्य, और पाश्चात्य साहित्य का मंथन—इन दोनों का गंगा-जमुना संगम द्विवेदी जी की रचनाओं में बड़े ही सरस और सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है।

वे हिन्दी के श्रेष्ठतम ललित निबंधकार हैं। उनके ललित निबंधों में भारतीय संस्कृति की रसवंती विरासत वर्तमान की मूल्यहीनता की ओर संकेत करती हुई उज्ज्वल और अक्षय भविष्य-निधि की ओर पाठकों को ले चलती है। उनका अगाध पांडित्य अत्यंत सहजता से मानव की विजययात्रा के पड़ावों का परिचय कराते हुए अभिभूत करता है।

आचार्य द्विवेदी हिन्दी ललित-निबंध जगत के देवदारु हैं, गौरीशंकर शिखर हैं, कल्पतरु हैं। उन्होंने प्रस्तुत निबंध में इतिहास प्रसिद्ध नगर वैशाली की प्रजातंत्रीय व्यवस्था की व्यापार-नीति की ओर जनता की जीवन-प्रणाली की सराहना की है। साथ ही कालक्रम में वैशाली नगरवासियों की मूल्यहीन जीवन-पद्धति को इसके नाश का

कारण मानते हुए वे महात्मा बुद्ध से प्रतिपादित मनुष्योचित गुणों का अनुसरण करने की ओर संकेत करते हैं। आचार्य विद्वेदी वैशाली की गौरव-गाथा का वर्णन करते हुए हमें सदाचार का तारक-मंत्र का उपदेश देते हैं। यह ललित निबंध 'कटुज' निबंध से लिया गया है।

प्रमुख रचनाएँ : हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, हिन्दी साहित्य का आदि काल, सूर-साहित्य (आलोचना), बाणभट्ट की आत्मकथा, चारूचन्द्रलेख, पुनर्नव, अनामदास का पोथा(उपन्यास)।

ललित निबंध-संग्रह : अशोक के फूल, कुटज, कल्प-लता।

आज जिस पुण्य-नगरी में हम एकत्र हुए हैं उसका महत्व सर्वविदित है। यह कहना बड़ा कठिन है कि यह पुरी कितनी पुरानी है। पर बहुत पुरानी है इसमें कोई सन्देह नहीं। वाल्मीकि रामायण के अनुसार यह इक्ष्वाकु के पुत्र राजा विशाल द्वारा स्थापित हुई थी। वहाँ इसका नाम विशाला पुरी दिया हुआ है। विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण जब मिथिला की ओर जा रहे थे तो उन्होंने इस पुरी की शोभा देखी थी। यहाँ के लिच्छिवियों की चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं मिलती। बौद्ध और जैन परम्परा में इस नगरी का और इसके पराक्रमी शासक लिच्छिवियों की बहुत चार्चा मिलती है। भगवान महावीर को जन्म देने का सौभाग्य इसी पुरी को प्राप्त है। कहते हैं वैराग्योदय के बाद बुद्धदेव ने जिस परमज्ञानी

आलारकालाम से विध्या प्राप्त की थी वे वैशाली के ही रख थे। बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद तो बुद्धदेव कई बार इस नगरी में आए। यहाँ की प्रसिद्ध रूपवती गणिका आम्रपाली ने अपना आम्रवन उन्हें भेंट किया था। एक और महीयसी महिला बालिका देवी ने उन्हें बालिकाराम नामक उद्यान को भेंट किया था। बौद्ध परंपरा बताती है कि यहाँ पर बुद्धदेव ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति दी थी। यहाँ पर द्वितीय बौद्ध संगिति हुई थी जिसमें बौद्ध संघ के विघटन का संकेत मिला। वैशाली की प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था कदाचित भारत की अनोखी राज-व्यवस्था थी। इतिहास में यह अपने ढंग की निराली शासन पद्धति है। बुद्धदेव ने वैशाली के नागरिकों की नीतिपरायणता, साधुता और शील की प्रशंसा की थी। यहाँ के श्रेष्ठियों, सार्थवाहों और कलिकों के निगम की साख संसार में थी। वैशाली धार्मिक दृष्टि से अद्भुत संगमस्थली रही है। वैदिक, बौद्ध और जैन धर्म परंपरा की यह त्रिवेणी रही है। राजनीति, अर्थनीति और सैन्यनीति के लिए गौरव के साथ इसका स्मरण किया जाता है। ज्ञान, तपस्या, विद्वता का भी यह केन्द्र रही है। कला-कौशल और उद्योग का भी यह केन्द्र रही है। नृत्य-गीत, वादित्र, उत्सव, यात्रा आदि में इसकी धाक रही है।

यक्ष-पूजा का कभी यहाँ सम्मान रहा होगा। कई चैत्यों के नाम पुस्तकों में मिल जाते हैं, कई ऐसे भी होंगे जिनके नाम ज्ञात नहीं हैं। अनेक पुष्करिणियों और सरोवरों से यह भरी थी। यहाँ कहीं लिच्छवियों की वह अभिषेक पुष्करिणी थी जिसके पवित्र जल को स्पर्श करने का साहस किसी को नहीं होता था। आज का खरौना पोखर इसी महिमामयी पुष्करिणी

का अवशेष है। बौद्ध-परम्परा से पता चलता है कि यह नगरी कई बार बढ़ाई गई, नगर प्राकारों को कई बार हटाकर बढ़ाया जाता रहा, इस प्रकार नगरी निरन्तर विशालकाय बनती गई और इसलिए वैशाली कही गई। कहा गया है कि उसमें 7777 प्रासाद, इतने ही कूटागार, इतने ही उद्यान (आराम) और इतनी ही पुष्करणियाँ थीं (अंगुत्तर निकाय की अड्डकथा) संख्या कुछ इस प्रकार से बताई गई है कि कुछ लोग इससे काल्पनिक मानने लगते हैं पर इतना तो स्पष्ट है कि यह नगरी बहुत ही समृद्ध और जनसंकुल थी। जैन परम्परा से पता चलता है कि ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के और वैश्यों के अलग-अलग उपनगर थे। वर्तमान बानिया ग्राम को पुराने वाणियग्राम का अवशेष बताया जाता है।

ऐसे गौरव पूर्ण इतिहास की महिमा का उद्घोष करने वाली नगरी में उपस्थित होने का सौभाग्य पाने वाला कुछ भावुक हो जाए तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। यह सही है कि पुराना वैभव आज उड़ गया है, प्रबल पराक्रमी यक्षों और देवताओं ने इसे छोड़ दिया है, चंचल लक्ष्मी अन्तर्धान हो गई है, पर आज भी महान आत्माओं के सन्देश वायुमण्डल में विद्ध हैं, आज भी उनके चरणरज से धरती पवित्र बनी हुई है, आज भी इस नगरी के भग्नावशेष हमारे रक्त को हिलोलित करने की शक्ति रखते हैं।

वे कौन-से गुण थे जो वज्जियों की इस भूमि को इतनी महिमा देते थे? आदमी वे वैसे ही रहे होंगे जैसे हम हैं। लेकिन मनुष्य कुछ मनुष्योचित गुणों से गौरव पाता है। बुद्धदेव ने एक बार इनके उन गुणों का विश्लेषण किया था। उन्होंने आनंद से सात बातें पूछी थीं और उनका अनुकूल

उत्तर सुनने के बाद बताया था कि ये सात अपरिहारणीय धम्म हैं अर्थात् ऐसे गुण हैं जो कभी अवनति नहीं होने देते और कहा था कि जब तक वैशाली के नागरिकों में ये गुण रहेंगे तब तक उनकी समृद्धि ही होती रहेगी, कोई उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। वे सात प्रश्न हमारे लिए आज भी प्रकाश—स्तम्भ की भाँति बने हुए हैं। भगवान् बुद्ध के प्रश्न इस प्रकार थे 'अच्छा आनन्द, तुमने सुना है कि (1) वज्जी लोगों का सार्वजनिक जुटाव भरपूर होता है, वे बराबर मिलते रहते हैं? (2) वज्जी लोग इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उध्यम करते, इकट्ठे होकर अपने राष्ट्रीय और सामाजिक कर्तव्यों का पालन करते हैं; (3) क्या वज्जी लोग अपनी सभाओं और पंचायतों द्वारा बाकायदा कानून बनाए बिना कोई आदेश जारी नहीं करते, बने हुए नियमों का उल्लंघन नहीं करते और नियमानुसार चलते हुए पुराने सामाजिक कर्तव्यों का यथावत पालन करते हैं? (4) क्या वज्जी लोग अपने बुजुर्गों का आदर—सत्कार करते हैं, उन्हें मानते हैं, उनसे सुनने योग्य बातों को सुनते और मानते हैं? (5) क्या वज्जी लोग अपनी कुलस्त्रियों और कुलकन्याओं का सम्मान करते हैं, उनपर जोर—जबरदस्ती नहीं करते? (6) क्या वज्जी लोग उनके भीतर और बाहर के चैत्यों (पूजा—स्थानों, समाधियों) का सम्मान करते हैं, उन्हें गुरुता देते हैं, पूजते हैं और और इन स्थानों के लिए जो पहले दिया गया है और किया गया है उन्हें लौटा नहीं लेते, अमान्य नहीं करते? (7) क्या वज्जी लोगों में अर्हता की रक्षा करने का भाव है, क्या बाहर के अर्हत उनके राज्य में आ सकते हैं और आने पर सुगमतापूर्वक विचर सकते हैं?' आनंद ने इन प्रश्नों के उत्तर में बताया था कि उन्होंने ऐसा ही सुना है।

भगवान बुद्ध ने कहा था कि जब तक ये गुण उनमें विद्यमान हैं तब तक कोई उनका कुछ बिगड़ नहीं सकता है।

ये राष्ट्रीय गुण ऐसे हैं जो वाज्जियों को निरंतर समृद्धि की ओर ही ले जाएँगे। इन्हीं महान सामाजिक गुणों ने वज्जियों को समृद्धिशाली और अजेय बनाया था। इन्हीं गुणों के अभाव में वे बिखर गए।

जितने दिनों तक वैशाली के नागरिकों ने अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान किया, अपने बनाए नियमों का पालन किया, अपने पूजनीयों की पूजा की, धर्म और में ज्ञान जो श्रेष्ठ हैं वे चाहे घर के हों या बाहर के, सबको स्वतन्त्र भाव से विचरण करने दिया, उनका स्वागत—सम्मान किया तब तक चंचला लक्ष्मी स्थिर बनकर विराजती रही, विकट शत्रु उनकी ओर ताकने का साहस नहीं कर सका — वे सब प्रकार से अजेय बने रहे। अजातशत्रु —जैसा प्रबल पराक्रमी हिम्मत नहीं कर सका कि उनपर सीधा आक्रमण कर सके। वैशाली के महान नागरिकों को जीतने का एकमात्र उपाय था उनमें परस्पर अविश्वास पैदा करना, उनमें फूट डालना। जिस दिन यह हुआ उसी दिन यह शक्तिशाली गणतन्त्र समाप्त हो गया। वैशाली के खँडहरों को देखकर सबसे सबसे पहला प्रश्न यही उठता है आज भी क्या भगवान बुद्ध के 'अपरिहारणीय' धर्मों की उतनी ही आवश्यकता हमारे नवीन और महान गणतन्त्र को नहीं है? आज वैशाली की तुलना में कहीं विशाल पैमाने पर हमने भारतीय गणतन्त्र का प्रयोग शुरू किया है। वैशाली के अनुभव हमारे काम आ सकते हैं। भगवान बुद्धदेव का इंगित हमें पथनिर्देश कर रहा है। वैशाली के धूलिकण पूछ रहे हैं— क्या तुम बार—बार मिलते

हो, मिलकर निश्चय करते हो, निश्चय किये हुए को अन्तकरण से मानते हो, कुलकन्याओं और कुलस्त्रियों का सम्मान करते हो, वृद्धों की बात मानते हो, पूजनीयों की पूजा करते हो, देश-विदेश के ज्ञानव्रती महात्माओं का स्वागत करते हो, उनकी स्वाधीनता का अबाध रूप से सम्मान करते हो? संसार के श्रेष्ठ महामानव ने जो कुछ कहा था उसे क्या तुमने क्या तुमने समझने का उद्योग किया है? गण्ठन्त्र को महान, शक्तिशाली और अपराजेय बनाना चाहते हो तो इस महावाणी को अच्छी तरह समझ लो।

कोई आश्र्य नहीं कि इस महिमामयी नगरी ने महान विचारों को और ज्ञानियों को जन्म दिया, इस धरती के उगे हुए फूलों की सुगन्धि ने भीतर-बाहर सर्वत्र सुगन्धि फैलाई है। वह सुगन्धि देश और काल को जीत कर आज भी हमारे मानस को स्निग्ध और सरस बना रखा है। इसी वैशाली ने महान धर्मनेता महावीर को जन्म दिया। हिमालय से ही गंगा की धारा निकल सकती है, महासमुद्र से ही अमृत का आविर्भाव होता है सन्तों, महात्माओं और विद्वानों का सम्मान करनेवाली महिमामयी वैशाली ही महावीर—जैसे नर-रत्न को उत्पन्न कर सकती है। बड़ों के बीच पैदा हुआ बड़ा बहुत बड़ा होता है, बौनों में बड़ा, औसत बड़े के बराबर भी नहीं हो सकता। भगवान महावीर बड़ों के बड़े थे। महावीर ने जो सन्देश दिया वह कुल, जाती की सीमा से परे था, वह मानव मात्र के कल्याण की वाणी थी। कठोर तपस्या से निर्मलीकृत चित्त से निकली हुई मैत्री और अहिंसा की वाणी अपना उपमान आप ही होती है। कोई दुखी न रहे, कोई किसी को न सताए, सभी जरा-मरण-व्याधि से छुटकारा पा जाएँ, कहीं

किसी को भय न हो, किसी से भय न हो। हिंसा का उन्माद दूर हो। कैसे हो सकता है? कौनसी बात कह सकता है? लोभ और मोह से ग्रस्त जगत में क्या यह सम्भव है कि सबकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाएँ। भगवान महावीर ने कहा था – उपाय है। अपने को संयत करो, त्याग में सुख है। कामनाओं के पीछे दौड़ते–फिरने से कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। सच्ची तृप्ति त्याग से होती है। अपने को इसी संयम से संयत करो। धूल से बचना चाहते हो तो सारी दुनिया को चमड़े से मढ़ने की दुराशा में मत पड़ों, अपने पैरों को चमड़े से ढँक लो। कौन दे सकता है ऐसे त्याग का उपदेश? ऐसे संयम की सिखावन? देने से ही सुनता कौन है? महावीर ने स्वयं करके दिखाया था। कठिन तपस्या, अपूर्व त्याग, अद्भुत धैर्य। समस्त सुखों को जो तृणवत त्याग दे, वही त्याग की वाणी सुनाने का अधिकारी है। महावीर ने सुनाया, लोगों ने सुना। सच्चे हृदय से निकली वाणी जादू का असर करती है। वैशाली की इसी धूल में कहीं बालक महावीर खेले होंगे। उनके चरणों से स्पृष्ट पवित्र धूलिकण आज भी कहीं – न– कहीं इस धरती में बिखरे होंगे। आज वे उत्सुक दृष्टि से देख रहे होंगे कि कहीं उस पवित्रात्मा की वाणी सुनने का कोई अधिकारी है या नहीं। जानना चाहते होंगे – क्या तुम सचमुच महावीर का स्मरण करने आये हो? वहा वाणी त्याग बोल सकता है, वह वाणी सन्त को शोभा देती है। आचरण दुरुस्त करों, मन निर्मल करो, हृदय प्रशस्त बनाओं तभी तुम उसके अधिकारी हो सकते हो। भगवान बुद्ध को यह नगरी बहुत प्रिय थी और वे भी इस नगरी के निवासियों के बहुत प्रिय थे। उनके अचरणरज़ यहाँ अवश्य विद्यमान होने चाहिए।

आश्चर्य होता है इस भूमि की संतानों की महिमा पर । पर और भी आश्चर्य होता हमारी ग्राहिका शक्ति के भोथरेपन पर । आज से सौ—वर्ष पहले हम जानते भी नहीं थे कि कभी वैशाली का इतना महान गौरव रहा होगा । आज से लगभग सौ सवा—सौ वर्ष पहले हम जानते भी नहीं थे कि कभी वैशाली का इतना महान गौरव रहा होगा । आज से लगभग सौ वर्ष सन 1862 ई० पूर्व भारतीय पुरावृत्त के महान प्रेमिक अलेक्जेंडर कनिंगहम यहाँ आए थे । उनकी पैनी दृष्टि ने इस नगरी को पहचाना था । उनके पूर्व सन 1334 में ई.जे. स्टीकेन्सन ने इस स्थान को पहचाना था । पर कनिंगहम की यात्रा ही इसके पुनरुद्धार का वास्तविक हेतु सिद्ध हुई । वह पुण्य मुहूर्त था जब वैशाली की पुरानी परंपरा के अनुसार इस भूमि ने कनिंगहम जैसे ज्ञान—पिपासु का स्वागत किया था । आप चाहे तो इस उत्सव को उस पुण्यकाल की शताब्दी के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं । उन दिनों प्राचीन स्थानों की खुदाई की कोई संगठित व्यवस्था नहीं थी । कनिंगहम ने आसपास की बस्तियों के नाम और किंवदंतियों से अनुमान किया था कि यही प्रसिद्ध वैशाली नगरी है जिसकी चर्चा बौद्ध और जैन परंपराओं में मिलती है और चीनी यात्रियों के अपने यात्रा—विवरणों से सुरक्षित रह गई है । कनिंगहम के उद्योगों से अनेक प्राचीन स्थानों का पता चला था, उन्हीं के अथक प्रयत्नों से भारतीय सरकार ने आरक्योलाजिकल सर्वे का महकमा कायम किया था । उनका नाम भारतीय इतिहास के उद्धारकों में सदा आदर और कृतज्ञता के साथ स्मरण किया जाएगा । सन 1934 में आरक्योलाजिकल सर्वे के टी. ब्लाश ने और कोई दश वर्ष बाद डी.बी.स्पूपर ने गढ़ के पास

कुछ खुदाई का काम शुरू किया। ब्लाश और स्पूनर को चार ऐसे सील मिले जिन पर वैशाली नाम खुदा मिला था। यद्यपि उनकी खुदाई इस स्थान के इतिहास को बहुत पुरानी वैशाली का विशेष सन्धान नहीं बता सकें बहुत—कुछ वे गुसकाल तक का ही सन्धान पा सके परन्तु यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि वसाढ़ गाँव वैशाली का ही रूप है। यहाँ के खण्डहर वैशाली का ही स्मरण दिलाते हैं। फिर तो यहाँ के अधुना प्रचलित नाम अपनी कहानी आप कहने लगे। राजा विशाल का गढ़ और वसाढ़ गाँव पुरानी वैशाली का ही स्मरण करने लगे, बानिया, जैन परम्परा के वाणियागाम की याद दिलाने लगा, बासोकुण्ड, कुण्डग्राम की स्मृति जाग्रत करने लगा, कोल्हुआ कोल्हाग की कहानी सुनाने लगा और बोधा, भगवानपुर और आनन्दपुर भगवान बुद्ध और उनके शिष्य आनन्द से सम्बधित होने का उल्लेख करने लगे। चीनी यात्री के बताए हुए स्तूपों की याद ताजी हो गई, अनेक पोखरे पुरानी पुष्करिणियों की गवाही देने लगे और समूची महिमा अधभूली कहानी—सी चित्त को हिलोलित करने लगी। यही वह महिमामयी वैशाली है, जिसे हम भूल चुके थे, जिसका नाम लेकर हम गर्व कर सकते हैं, जिसकी धरती इस भारतभूमि की कीर्तिपताका है।

स्वतंत्रता—प्राप्ति के बाद सन 1950 ई. में हमारी सरकार के पुरातत्व—विभाग ने इसकी और जाँच की और श्री कृष्णदेव और श्री विजयकान्त मिश्र ने इस नये प्रयत्न के परिणामों का विवरण प्रकाशित किया है। इससे हम वैशाली के और भी पुरातन इतिहास का सन्धान पाते हैं। अब हम वैशाली की उन मनुष्य—कृत कृतियों का सन्धान पाते हैं जो आज से

ढाई वर्ष पहले की हैं। धरती तो बहुत पुरानी हैं। हम ढाई वर्ष पहले के मनुष्य के हाथों का स्पर्श अनुभव करने लगे हैं। उसके चित्त में सौन्दर्य और शालिनता का जो रूप था, मानस और आध्यात्मिक भावों की जो उमंग थी, राजनीतिक और व्यावसायिक महिमा का जो उल्लास था उसका किंचित स्पर्श पाकर आज हम उल्सित हैं। मनुष्य के समाहित चित्त से लोक और परलोक की जो चारू कल्पना थी उन्हें हमें साक्षात् अनुभव करने का अवसर मिला है, मिट्टी के ठोकरे और बर्तन, ईट-चूने के भग्नावशेष लोहा-लकड़ और प्रस्तर मूर्तियाँ हमें उद्घेलित करती हैं। अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों और तत्त्व-चिन्तकों ने टूटी कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया है। उन्होंने इतस्ततो विक्षिप्त सामग्रियों के आधार पर हजारों वर्ष पहले के मानव की आशा—आकांक्षाओं की सजीव मूर्ति बनाई है। ये खण्डहर, ये ठीकरें ये भग्नस्तूप, ये अवशिष्ट जलाशय, ये नष्टप्राय दीवारें अंगुलि-निर्देश हैं। ये ही सब कुछ नहीं हैं। ये हजारों वर्ष के नर—नारियों की जीवन्त—कथा सुनाती हैं। हम उन विद्वान शोधकों के ऋणी हैं जिन्होंने इस महिमामय मनुष्य को प्रत्यक्ष दिखा दिया है। हजारों वर्ष पुराने मनुष्य को उसकी समस्त आशा—आकांक्षों के साथ मूर्तिमान करके दिखाने वाले शोधी धन्य हैं। हम उनके प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

किन्तु ततः किम? क्या याद आ जाना भर काफ़ी है? ऐसा जान पड़ता है कि हँसती—खेलती वैशाली ओ बिजली मार गई है, उसका क्षत—विक्षत शव हमारे सामने पड़ा है। हमारे विद्वान शोधकों ने किसी प्राचीन शवसाधक तान्त्रिक के समान इसकी आराधना की है। शव—साधना के लिये तांत्रिक

लोग उत्तम प्रकृति के मनुष्य का शव काम में लाते थे। वैशाली से उत्तम प्रकृति की नगरी कहाँ मिलेगी? परन्तु शव—साधना के बारे में पुरानी पोथियों में कुछ विचित्र बातें लिखी मिलती हैं। साधक शव की पीठ पर बैठकर मन्त्र—जपता है। शव का मुँह नीचे की ओर होता है। कहते हैं कि जब सिद्धि प्राप्त होने को होती है तो शव का मुँह उलट जाता है। उसमें प्राण—संचार की सी अवस्था होती है। वह बोलने लगता है। फिर वह जो चाहे दे सकता है। वैशाली का मुँह भी अतीत की ओर है। सिद्धि प्राप्त करने की अवस्था तब होगी जब उसका मुँह उलट कर भविष्य की ओर हो जाएगा। विद्वान् शोधकों के प्रयत्न तभी सफल कहे जाएँगे जब वह भविष्य की ओर हो जाए। ऐसा क्या हुआ है? वैशाली के नागरिकों के आदर्श का हमारी नई परिस्थितियों के परिवेश में नवीन रूप ग्रहण करने का सामर्थ्य सिद्ध कर पाये हैं—दूसरे शब्दों में क्या उन आदर्शों को जिनके कारण वैशाली अजेय बनी हुई थी, हमने अपनाया है? इस प्रश्न के उत्तर में ही हमारे इस इतिहास—शोध की सफलता का रहस्य छिपा हुआ है।

इस भग्नावशिष्ट गढ़ के प्रांगण में मनुष्यता की दुर्जय जय यात्रा स्पष्ट दिखाई दे रही है। कितनी बार वह चढ़ा है, कितनी बार गिरा उसने कितनी बार निराशा की लम्बी साँस खींची है और सुस्ताकर फिर आगे बढ़ा है। उसके क्षत—विक्षत लहू—लुहान चरणों ने हार नहीं मानी है, बाधाओं के काँटों को रोंदता हुआ, पराजय की थकान की उपेक्षा करता हुआ, मृत्यु की चुनौती को स्वीकार करता हुआ वह आगे बढ़ा है। पशुता ने रह—रहकर सिर उठाया है, छोटी—छोटी ममताओं की छीना—झपटी ने उसे मूढ़ बनाया है, भोंडे स्वार्थ ने उसे

कायर बनाया है, पर हारा नहीं है। महामानव आए है, उन्होंने अपनी अमृतवाणी से उसमें नव—जीवन का संचार किया है, महीयासी माताएँ आई हैं, उन्होंने अपनी स्नेहच्छाया से आत्म—त्याग और बलिदान की शक्ति संचरित की है, महान कर्मयोगी आए हैं और अपने कर्मजीवन और त्यागी चरित्र से प्रकाश बिखेरा है। मनुष्य थका है पर रुका नहीं है। वह बढ़ता जा रहा है। इतिहास के अवशेष उसकी विजय—यात्रा के पदचिन्ह हैं। वैशाली के खँडहर बताते हैं कि मनुष्य कभी विजय—यात्रा के उल्लास में मत्त होकर चला था, पर उसे बाधाओं के आगे झुकना पड़ा। वह दूसरी ओर मुड़ गया। रुका नहीं, हारा नहीं, मरा नहीं। इतिहास उन मोड़ों की कहानी सुनाता है। उन बाधाओं का रूप दिखाता है, मनुष्य की दूर्दम जययात्रा की कथा कह जाता है। आज इस पुण्य अवसर पर हम इतिहास से प्रेरणा लेने आए हैं— भविष्य के निर्माण की, मनुष्य के दुर्दान्त विजिगीषा की, अस्थिरता के पोषक तत्वों को उन्मूलन करने की लालासा की। वैशाली हमारा आलोक—स्तम्भ सिद्ध हो।

जीवन में साहित्य का स्थान

प्रेमचन्द

लेखक परिचय

प्रेमचन्द (1880–1936) हिन्दी के महान कथाकार हैं किन्तु उन्होंने गद्य की कुछ अन्य विधाओं में भी लिखा है। ‘कर्बला’ नामक नाटक लिखा, सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी, साहित्यिक और सामाजिक विषयों पर पत्र लिखें तथा कुछ बहुत महत्वपूर्ण निबंध लिखे। ये निबंध ‘कुछ विचार’ नामक पुस्तक में संग्रहित हैं। इस पुस्तक में इनके ग्यारह निबंध संग्रहित हैं जिनमें सात निबंध साहित्य के प्रश्नों में संबंधित हैं बाकी का संबंध भाषा चिंतन से हैं। इनमें से कुछ निबंध भाषण के रूप में लिखे गये हैं। प्रेमचन्द का लेखन सामाजिक जीवन यथार्थ से संबंधित है। उन्होंने अपने उपन्यासों, कहानियों में समाज के और विशेषतया अभिशास समाज के सुख-दुखों समस्याओं, अभावों और संघर्षों को रूपायित किया है तथा समाज को एक आदर्श की ओर उन्मुख किया है। प्रेमचन्द ने अपनी कथाकृतियों में जिस सत्य की रचना की है। अपने निबंधों उसी की वैचारिक व्याख्या की है।

प्रेमचन्द आदर्शान्मुख यथार्थवाद के समर्थक रहे हैं। उन्होंने अपनी कथाकृतियों (अंतिम चरण की कुछ कृतियों को छोड़कर) में यथार्थ को उसके घनीभूत रूप में चित्रित करते

हुए भी उसे अंत में आदर्श की ओर उन्मुख कर दिया है। उन्होंने लिखा है— ‘वहीं उपन्यास उच्च कोटि के समझ जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।’

प्रेमचन्द ने घटनाप्रधान कथा के स्थान पर चरित्रप्रधान कथा की सृष्टि की। इन्होंने अपने निबंधों में भी चरित्र पर बार-बार बल दिया ‘मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।’ प्रेमचन्द ने साहित्य के नये सौन्दर्य बोध पर भी विचार किया। उसे इन्होंने आम आदमी के सुख-दुख और संघर्ष से जोड़ा और अमीरी तथा विलासिता से जुड़ी सौन्दर्य दृष्टि का निषेद्ध किया। प्रेमचन्द ने कथा के चरित्रों के अतिरिक्त उसके कथानक भाषा शैली आदि पर सुचिंतित विचार व्यक्त किये। इस प्रकार हिन्दी में पहली बार कथा-साहित्य-चिन्तन का इतना व्यापक और नया रूप प्रकट हुआ।

प्रेमचन्द सामाजिक संस्कृति के समर्थक लेखक थे। अतः इन्होंने भाषा के संबंध में या राष्ट्रीय समस्याओं के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए अपनी प्रगतिशील दृष्टि और सोच का अच्छा परिचय दिया। ‘भाषा का संबंध कौमी जीवन से होता है। किसी कौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा स्थान है, इसे सब हम जानते हैं।’ भाषा की इस अहमियत की स्थापना करके ये उसके महत्व की व्याप्ति की व्याख्या करते हैं।

प्रेमचन्द की भाषा चलती हुई भाषा है। उसमें अद्भुत सजीवता, वेग और सहजता है। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा वे

अपनी बात कहते चले जाते हैं, विचारों और अभिव्यक्ति में कहीं भी उलझन नहीं दिखाई पड़ती। वाक्य सीधे और असरकारक होते हैं। शब्दों के चयन में वे बहुत खुले हुए हैं। उनकी चलती हुई भाषा में प्रचलित संस्कृत और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग होता है।

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाब दिया है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून है जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनंद है। मनुष्य जीवन पर्यन्त आनन्द की खोज में ही पड़ा रहता है। किसी को रत्न-द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, लम्बे-चौड़े भवन में, ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होगा, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दरता है, क्योंकि उसकी सृष्टि के पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अन्दर, उषा की लाली में, सावन—भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वही आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसो भागता है। सत्य का कृत्रिमता से क्या सबम्ध। अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक—दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है। जो श्रृंगार—विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना—प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य—जगत से सबन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगें, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग नाना प्रकार के कष्टों का झोलना,

न्यायमर्यादा की रक्षा करना ये भाव रहे, जो इस अदभुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का हैं। एक जिज्ञासा का संबंध है, दूसरा प्रयोजन का संबंध हैं दर्शन और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का संबंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का संबंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का संबंध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्त्रोत बन जाता है, वही वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञास का संबंध विचार से है, प्रयोजन का संबंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों से होता है। एक दृश्य घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता।

आइए देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरान्त कुछ और भी होता हैं। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती है, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती है, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे

मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्सन्देह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायेंगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है। उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सके। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे— अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हट की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरुरत यह होती है, कि बालक में जो सदवृत्तियाँ हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायें। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्म- विकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों से हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक से नहीं कर सकते, उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की ये कथाएँ रची, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु

हैं। बौद्धों की जातक—कथाएँ, तौरेह, कुरान, इंजिल ये सभी मानवी कथाओं के संग्रह मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े—बड़े धर्म स्थिर हैं। वहीं कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायेगा। क्या उन धर्म प्रवर्तकों ने अकारण ही मानव—जीवन कथाओं का आश्रय लिया ? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना संदेश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानव जाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव—चरित्र की उपेक्षा कैसे करते ?

आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख—दुख, हँसने—रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी—जीवन से, कृषक को कृषक—जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य—जगत में प्रवेश पाते ही वह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट होकर समस्त मानव—जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव—जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानों विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईट—पत्थरों में, पेड़—पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत, इस प्रत्यक्ष जगत, जैसे नहीं है। हम मनुष्य होने के

कारण मानव—जगत के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख—दुख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु—बाँधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उनके एक—एक विचार, एक—एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नज़रों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचार सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उनके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी हारमोनी प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश—बन्धुओं को कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। टाम काका की कुटिया गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदले रहते हैं; पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और

कदाचित अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है। महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी—कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे; चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़े। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानवचरित्र — को बदल लेना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायें पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करे पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है — हमारा आशय दिल्ली में कतलाम करनेवाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है तो नादिरशाह के निर्दयी होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम, किस बात से प्रभावित होकर उसने कतलाम को बन्द करने का हुक्म दिया था ? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध

किसी तरह नहीं शान्त होता और दिलीवालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँह लगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और शेर पढ़ा –

‘कसे न माँद कि दीगरब तेगे नाज कुशी ।
मगर कि जिन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज़ कुशी ।

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है; इस शेर को सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और तुरंत कतलाम को बन्द कर दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेजी मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा – तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, अपराधी ने कहा – इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखें मैं आँसू छलछला आईं। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंग्लैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है। जमाने के छल प्रपञ्च और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की

चेष्टा करता है उपदेशों से नहीं नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है— साहित्य। युरोप का सहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी कांड़ों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु और जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थपरायणता दिन—दिन बढ़ती जाती है, अर्थ—लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के कांटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्पार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का ऋषा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ़ सौ साल से अधिक नहीं पर अभी नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की—सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर आ चुका है कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायेगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। यूरोप का कोई व्यक्ति लखपती होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर

अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया—बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढालते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर ही सीता हुई।

यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वन्तरि के होने पर भी संसार में वैध्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणत-युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अन्धाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजकर बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नगन चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करें। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर दते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है।

भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इन्जीनियर नहीं कहलाता। इन्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्मसंयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है जब तक हमारे साहित्य—सेवी इस आदर्श नक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य—रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो—चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य सेवी उत्पन्न हो, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

अलोपी

महादेवी वर्मा

लेखक परिचय

महादेवी वर्मा (1907–1987) हिन्दी साहित्य की आधुनिक मीरा के रूप में चिरपरिचित हैं। छायावादी चतुष्टयी में इनका अन्यतम स्थान है। सन 1907 में उत्तर प्रदेश के फारुखाबाद के एक सभ्रांत परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता बाबू गोविन्ददास वर्मा इन्दौर में प्रोफेसर थे तथा माता हेमरानी देवी हिन्दी में कविता करने की सामर्थ्य रखती थी। घर पर ही इनके लिए हिन्दी, संगीत और चित्रकला की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ था। नौ वर्ष की छोटी अवस्था में ही इनकी शादी डॉ. स्वरूपनारायण वर्मा के साथ कर दी गयी थी, फलतः इनकी शिक्षा छूट गयी। विद्याध्ययन की धुन होने के कारण कालान्तर में श्रीमती वर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए किया बाद में महिला विद्यापीठ, प्रयाग में प्रधानाचार्या नियुक्त हुई। आगे चलकर इन्होंने 'चाँद' तथा 'साहित्यकार' मासिका का भी संपादन किया।

महादेवी का व्यक्तित्व सौम्य और प्रभावशाली था। उन्होंने उपनिषदों, वेदों, और बौद्ध साहित्य का विशद अध्ययन किया था और उनके व्यक्तित्व और काव्य पर इस गहन अध्ययन की छाप दृष्टिगोचर होती है। बंगाल के अकाल के समय 'बंग दर्शन' और चीन के आक्रमण-काल में

‘हिमालय’ पर लिखी गयी भिन्न कवियों की कविताओं का सम्पादन इनकी राष्ट्रीय जागरुकता के परिचायक अंश है।

आपकी प्रमुख कृतियाँ

1. कविता संग्रह : नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य—गीत, यामा तथा दीपशिखा।

2. गद्य रचनाएँ : अतित के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ, श्रृंखला की कड़ियाँ, मेरा परिवार, पथ के साथी आदि।

महादेवी वर्मा का साहित्यिक जीवन अत्यंत सफल रहा। ‘नीरजा’ कव्य—संग्रह को सेक्सरिया पुरस्कार तथा ‘आधुनिक कवि’ को हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषक प्रदान किया गया था। देश के स्वतंत्र होने पर श्रीमती वर्मा जी उत्तरप्रदेश धारा—सभा की सदस्या मनोनीत हुई थीं। सन 1964 में ‘भारती परिषद’ की ओर से ‘महादेवी अभिनन्दन ग्रन्थ’ प्रकाशित किया गया था। महादेवी के लोकप्रिय और प्रातिनिधिक कविताओं का संकलन ‘यामा’ को ज्ञानपीठ पुरस्कार का गौरव प्राप्त हुआ है।

इनकी गद्य रचनाओं में मनोवैज्ञानिक चिन्तन—क्रम, गंभीर विचार और अनुभूति का गहरा पुट है। गद्य में भी काव्य का—सा आनन्द मिलता है। महादेवी का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा संस्कृतनिष्ठ है तथा प्रवाह, माधुर्य, सौष्ठव इनकी गद्य—भाषा की विशेषताएँ हैं।

अन्धे अलोपी के घटना—शून्य जीवन में उपयोगिता का एक भी परमाणु है या नहीं, इसकी खोज कोई तत्व—वैज्ञानिक ही कर सकेगा। मुझे तो उसकी कथा आँसू भरी दृष्टि की छाया में काँपते हुए दुःख गीत की एक कड़ी—सी लग रही है।

मैंने उसे कब देखा, यह कहानी भी उसी के सामने अपनी विचित्रता में करूण है।

वैशाख नये गायक के समान अपनी अग्निवीणा पर एक—से—एक लम्बा आलाप लेकर संसार को विस्मित कर देना चाहता था। मेरा छोटा घर गर्मी की दृष्टि से कुम्हार का देहाती आवाँ बन रहा था और हवा से खुलते, बंद होते खिड़की—दरवाजों के कोलाहल के कारण आधुनिक कारखाने की भ्रान्ति उत्पन्न करता था। मैं इस मुखर ज्वाला के उपयुक्त ही काम कर रही थी अर्थात् उत्तर—पुस्तकों में अन्धाधुन्ध भरे ज्ञान—अज्ञान की राशि को विवेक में तपा—तपाकर ज्ञान कणों का मूल्य निश्चित कर रही थी।

हम लोग भी कैसे विचित्र हैं। जब बर्फ, खस की टट्टी, बिजली के पंखें आदि अनेक कृत्रिम उपचारों से भी हम अपनी बुद्धि का पिघलना नहीं रोक सकते, तब दूसरों के ज्ञान की परीक्षा लेने बैठे हैं। यदि मस्तिष्क, ठीक स्थिति में हो तो कदाचित् हम न्याय के लिए ऐसे अन्यान्यपरायण हो ही न सकें।

तीसरा पहर थके यात्री के समान मानो ठहर—ठहर कर बढ़ा चला आ रहा था और मेरे हाथ तथा दृष्टि में पृष्ठों पर दौड़ने की प्रतियोगिता चल रही थी। ऐसे अवसर पर किसी का भी आना हमारी अधिरता में झल्लाहट का पुट मिला देता है,

उस पर यदि आगन्तुक के कंठस्वर में हमें उसके भिखारीपन का आभास मिल गया हो, तब तो कहना ही क्या। नौकर-चाकर सब अपनी-अपनी कोठरियों के अस्वाभाविक अन्धकार को और भी सघन करके स्वेच्छा से उलूक होने का सुख भोग रहे थे। सोचा, न उठूँ। पुकारने वाले को असमय आने का दण्ड सहना चाहिए; परन्तु भिखारी के सम्बन्ध में मेरे संस्कार कुछ ऐसी ही तर्कहीनता तक पहुँच चुके हैं, जहाँ से अन्धविश्वास की सीमारेखा दूर नहीं रह जाती।

बचपन से बड़े होने तक माँ न जाने व्याख्या-उपव्याख्याओं के साथ इस व्यवहार—सूत्र को समझाती रही हैं कि हमारी शिष्टता की परीक्षा तब नहीं हो सकती, जब कोई बड़ा अतिथि हमें अपनी कृपा का दान देने घर में आता है, वरन् उस समय होती है, जब कोई भूला—भटका भिखारी द्वार पर खड़ा होकर हमारी दया के कण के लिए हाथ फैला देता है।

माँ के जीवन—काल में ऐसे अनेक अवसर आये होंगे, जब मुझे सीखा हुआ पाठ स्मरण नहीं रहा; पर जब से अप्रसन्न होने की सीमा के पार पहुँच चुकी हूँ, तब से मुझे भुला हुआ भी सारी सूक्ष्म व्याख्याओं के साथ याद आने लगा है।

भिखारी की आवश्यकता से अधिक मुझे अपनी शिष्टता की परीक्षा का ध्यान था। निरुपाय उठना पड़ा। कई बार पुकारने के उपरान्त पुकारनेवाली मूर्तियाँ पत्तों में दरिद्र नीम ही से छाया—याचना करने चल पड़ी थी। ए, ओ आदि अपरिचय—बोधक संज्ञा में अपना आमंत्रण पहचान कर जब वे लौटी, तब उनके प्रति पग पर मेरा कौतूहल पैर बढ़ाने लगा। चर्म के आवरण में से अपना विद्रोह प्रकट करने वाले

अस्थि—पंजर के लिए फटे लम्बे कुर्ते को दोहरा कारागार बनाए 11—12 वर्ष का बालक लाठी को एक ओर से थामे आगे—आगे आ रहा था और उँची धोती और मैली बंडी में अपनी कंकाल को यथासम्भव मुक्ति दिये एक अन्धा लाठी के दूसरे छोर के सहारे टटोल—टटोलकर बढ़ते हुए पैरों से उसका अनुसरण कर रहा था ।

खेत में लकड़ी पर औंधाई हुई मटकी जैसे सिर को हिलाते हुए पौढ़ बालक ने वृद्ध युवक को आगे कर न जाने क्या बताया; पर जब उसने ऊपर मुख उठाकर नमस्कार किया, तब ऐसा जान पड़ा मानो नमस्कार का लक्ष्य खजूर का पेड़ है ।

जीवन में पहली बार मेरा मन प्रश्न के उपयुक्त शब्दों की खोज में भटक कर उस नेत्रहीन के सामने मूक—सा रह गया ।

धूल के रंग के कपड़े और धूर भरे पैर तो थे ही, उस पर उसके छोटे—छोटे बालों, चपटे—से माथे, शिथिल पलकों की विरल बरुनियों, बिखरी—सी भौंहों, सूखे, पतले ओठों और कुछ ऊपर उठी हुई तुङ्गी पर राह की गर्द की एक पर्त इस तरह जम गयी थी कि वह आधे सूखे कले मॉडल के अतिरिक्त और कुछ लगता ही न था । दृष्टि के आलोक से शून्य छोटी—छोटी आँखें कच्चे काँच के मैली गोलियों के समान चमकहीन थीं; जिनसे उस शरीर की निर्जीव मूर्तिमत्ता की भ्रान्ति और भी गहरी हो जाती थी ।

कदाचित इसी कारण उसके कण्ठ—स्वर ने मुझे अज्ञात—भाव से चौंका दिया ।

इस वर्ग का जीवन खुली पुस्तक—जैसा रहता है, अतः

महान ही नहीं, तुच्छतम अवश्यकता के अवसर पर भी उसकी कथा आदि से अन्त तक सुना देना सहज हो जाता है। इसके विपरित हमारा जटिल—से—जटिलतम होता हुआ अन्तर्जगत और कृत्रिम बनता हुआ जीवन ऐसी स्थिति उत्पन्न किये बिना नहीं रहता, जिसमें बाहर के बगुलेपन को भीतर की सड़ी—गली मछलियों से सफेदी मिलने लगती है। इसी से हमारी तारतम्यहीन कथा अधिकाधिक अकथनीय बनती जाती है और सुख—दुख की सरल मार्मिकता निर्जीव होने लगती है। हम सहज—भाव से अपनी उलझी कहानी कह नहीं सकते। अतः जब कहने बैठते हैं, तब कल्पना का एक—एक तार सत्य की अनेक झंकारों की भ्रान्ति उत्पन्न करके उसे और उलझाने लगता है।

अन्धे अलोपी के कथा में न मनोवैज्ञानिक गुणियाँ हाथ लगीं और न समस्याओं की भूलभूलैया प्राप्त हुईं। हाँ, उसकी दैन्य भरी वाचालता से पता चला कि चक्षु के अभाव की पूर्ति उसकी रसना ने कर ली है और इस प्रकार पॅच ज्ञानेद्रियों में चाहे ज्ञान का उचित विभाजन न हो सका; पर उसके परिणाम का संतुलन नहीं बिगड़ा।

उसका पिता काढ़ी कुलावतंस रहा, पर बहुत दिनों तक अपने भावी वंशधर की प्रतिक्षा करने के उपरान्त उसे याचक के रूप में अलोपीदेवी के द्वार पर उपस्थित होना पड़ा। आलोपीदेवी कदाचित उस उदार सूम के समान थीं जो अपने दानी होने की ख्याति के लिए दान करता है, याचक ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं। उनके मंदिर से एक अखंडित मनुष्य—मूर्ति भी न निकल सकी। एक पुत्र दिया, वह भी एक नेत्रहीन। माँ—बाप ने उनके दान को उन्हीं के चरणों

पर फेंक आने की कृतघ्नता तो नहीं दिखाई; पर उनकी कृपणता की घोषणा कर अन्य याचकों को सावधान करने के लिए उसका नाम रख दिया अलोपीदीन।

वही अलोपीदीन अब तईस वर्ष का हो चुका है और काछी पिता अन्धे पुत्र से पितृ-ऋण का ब्याज मात्र चुका कर मूल को अपनी सेवा से चुकाने के लिए पितरों के दरबार में चला गया है। माँ तरकारियाँ लेकर फेरी लगाती है; पर पुत्र को अच्छा नहीं लगता कि जवान आदमी बैठा रहे और बुढ़िया मर-मर कर कमावे। इसी से शाक-तरकारियों के तत्ववेत्ता ताऊ से यहाँ की चर्चा सुन, वह काम की खोज में निकल पड़ा है।

ऐसे आश्र्य से मेरा कभी साक्षात् नहीं हुआ था। जीवन से अनजान किशोरों की संख्या कम नहीं, जो सुख के साधनों के लिए उस माँ से झगड़ते हैं, जिसकी उँगलियों के पोर सिलाई करते-करते चलनी हो चुके हैं। कुलबधुओं के समान आँसू पीने वाले युवकों का अभाव नहीं; जिनका पौरुष न दरिद्र पिता का सब कुछ छीन लेने में कुण्ठित होता है और न भिक्षावृत्ति से मूर्छित। अपनी पराजय को विजय माननेवाले ऐसे पुरुषों से भी समाज शून्य नहीं, जो छोटे बच्चों को छोड़ कर दिन-दिन भर परिश्रम करने वाली पत्नियों के उपार्जित पैसों से सिनेमा घरों की शोभा बढ़ा आते हैं।

साधारणतः आज के पुरुष का पुरुषार्थ विलाप है। जितने प्रकार से, जितने भाव-भंगियों के साथ, जितने स्वरों में वह अपने निराश जीवन का मर्सिया गा सके, अपनी असमर्थता का स्यापा कर सके उतना ही वह स्तुत्य है और उतना ही अधिक पुरुष नाम के उपयुक्त है।

अन्धी आँखों को आकाश की ओर उठाकर अपने पुरुषार्थ की दोहाई देनेवाले अलोपी को ऐसी परम्परा के न्यायालय में प्राण दण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता था। कुछ प्रकृतिस्थ होकर मैंने प्रश्न किया—‘तुम यहाँ कौन—सा काम कर सकते हो? अलोपी पहले से ही सोच—समझकर आया था—वह देहात के खेतों से सस्ती और अच्छी तरकारी लायेगा—मेरे लिए और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के लिए।

अपने जीवनव्यापी अँधेरेपन में वह ऐसा व्यवसाय में उलझा हुआ कर्तव्य किस प्रकार सँभाल सकेगा, यह पूछने का अवकाश न देकर अलोपी ने फुफेरे भाई रग्धू की ओर संकेत कर बताया कि उन दोनों के सम्मिलित पुरुषार्थ के कठिनतम कार्य भी सम्भव होते रहे हैं।

प्रस्ताव अभूतपूर्व था; पर मैं भी कुछ कम विचित्र नहीं, इसी से रग्धू और अलोपी अपने दुर्बल कन्धों पर कर्तव्य का गुरु—भार लाद कर लौटे।

दूसरे दिन सबेरे ही एक हाथ से रग्धू को लाठी का छोर थामे और दूसरे से सिर पर रखी बड़ी—सी छाबड़ी सँभाले हुए अलोपी, ‘मालिक हो! मालिक हो!’ पुकारने लगा।

मुझे क्या—क्या पसंद है यह जानने के लिए जब वह अनुनय—विनय करने लगा, तब मैं बड़ी कठिनाई में पड़ी। कुछ तरकारियाँ डाक्टरों ने मेरे पथ्य की सूची में नहीं रखी हैं और शेष के लिए सदा से ही यही नियम रहा है जो भक्तिन के विवेक को रुचे, वह मुझे स्वीकृत हो। फिर जिसे वर्ष में, कुछ महिने दही पर, कुछ फल पर और कुछ खिचड़ी, दलिय़ा आदि पथ्य पर बिताने पड़ने हों, वह रुचि के सम्बन्ध में

विताराग हो ही जाता है। पर अलोपी को निराश न करने लिए मैंने वह सब ले लिया, जिसे वह मेरे लिए ही लाया था। पैसे देते समय अलोपी ने कहा— वह महिने पर लेगा। जब मैंने अपने भूल जाने की सम्भावना और हिसाब लिखने की विरक्ति की व्याख्या आरम्भ की, तब उसने बहुत विश्वास के साथ समझाया कि वह दस तक पहाड़े और पहली किताब के विव्दान ताऊ की सहायता से मेरा हिसाब ठीक रखेगा। छात्रावास का वहाँ की मेट्रन रखेंगी ही। वहाँ इस युगल मूर्ति को लेकर जो विनोदात्मक कोलाहल मचा, उसके सम्बन्ध में ‘गिरा अनयन नयन बिनु बानी’ कहना ही ठीक होगा; पर दो-चार दिन में ही अलोपी सबकी ममता का पात्र बन गया। उसे जो स्वच्छन्दता प्राप्त थी, वह दूसरे नौकरों को मिल ही नहीं सकती थी। मेस के लिए आँगन के एक कोने में वह पैर फैलाकर बैठता और तौलकर लाई हुई तरकारी फिर वहाँ के बड़े तराजू पर तौलने लगता। उसका स्पर्श-ज्ञान इतना बढ़ गया था कि लौकी, कटहल, आदि को हाथ में लेते ही वह उनका तौल बता देता था। तुलाते-तुलाते वह शाक तरकारियों के प्रकार और खेतों के सम्बन्ध में, महराजिन, बारी आदि को न जाने कितना ज्ञातव्य बताता चलता था। प्रायः छोटी बालिकाएँ उसे घेर कर चिड़ियों की तरह चहकती ही रहती थीं। उनके लिए वह अमरुद, बेर आदि भी लाने लगा, जिनके दाम के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। एक दिन कॉलेज के फल वाले ने शिकायत की अन्धा फल लाकर बच्चों को बाँटता है, जिससे उसके व्यापार को हानि पहुँचती है, तब मैंने अलोपी से पूछा। उसने दाँत से जीभ की नोक दबाकर सिर हिलाते हुए जो उत्तर दिया,

उसका भावार्थ था कि दाम उसे मिल जाता है। फिर वह स्कूल के समय तो वह आता नहीं, अतः फल वाले की उससे क्या हानि हो सकती है।

बालिकाएँ न अलोपी को झूठा ठहरा सकती थीं, न मेरे सामने झूठ बोल सकती थीं; अतः वे मौन रहीं। मेरे अनुचित—उचित सम्बन्धी व्याख्यान के उत्तर में अलोपी ने मैली पिछौरी के छोर से धुँधली आँखें पोंछते—पोंछते बताया कि उसकी एक आठ—नौ वर्ष की चचेरी बहिन मर चुकी है। इन बालिकाओं के स्वर में उसे बहिन की भ्रान्ति होने लगती है, इसी से अपनी दरिद्रता के अनुरूप दो—चार अमरुद, बेर, जामुन आदि ले आता है। उसके देहात में तो ऐसी चिजों का कोई दाम नहीं लेता, फिर वह कैसे जानता कि शहर में ऐसे देना बुरा माना जाता है। दाम देकर खरीदता, तो लेना किस तरह उचित भी हो सकता था। पर वे फल उसे तरकारियों के साथ घलुए में मिल जाते हैं। इनसे पैसे बनाने की बात सोचकर उसका मन जाने कैसा—कैसा होने लगता है। उन्मुख अलोपी के मुख का भाव देखकर मैं अपने डपोरशंखी न्याय का महत्व समझ गयी और तब मेरा मन अपने ऊपर ही खीझ उठा। कहना व्यर्थ है कि अलोपी को अपने सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ा।

अलोपी के नेत्र नहीं थे, इसी से स्म्भवतः वह न तो प्रकृति के रौद्र रूप से भयभीत होता था और न उसके सौंदर्य से बहकता था। मूसलधार वृष्टि जब बर्फ के तुफान की भ्रान्ति उत्पन्न करती, बिजली जब लपेटों के फव्वारे—जैसी लगती और बादलों के गर्जन में जब पर्वतों के बोलने का आभास मिलता, रग्धू तो चलते—चलते बाहर से आँखें छिपा लेता, पर

भीगे चिथड़े के गुड्हे के समान अलोपी नाक की नोक से चूते हुए पानी की चिन्ता न कर, भीगी उँगलियों से फिसलती लाठी थामे और हरे खेत के खण्ड जैसी छाबड़ी सँभाले इस तरह पाँव रखता, मानो उन्हे आज ही पृथ्वी का पूरा परिचय प्राप्त करना है। एक बार भी कीचड़ में पैर पड़ जाने पर रगधू की खैर न थी, क्योंकि अलोपी आँख वाले के पथ—प्रदर्शन में ऐसी भूल अक्षम्य समझता था। जब शीत बर्फीले तारों का व्यूह—सा रच देती और पक्षाधात की साँस—जैसी हवा बहती तब रगधू पतले कुरते में मृगी के रोगी के समान हिलता और दाँत बजाता चलता; पर अलोपी सारी शक्ति से ठिठुरे ओठों के कपाट बन्द किए और सर्दी से नीले नाखून और ऐंठी उँगलियों वाले पैरों को तोल—तोलकर रखता हुआ आता। ग्रीष्म में जब धूल ऐसी जान पड़ती, मानो कोई पृथ्वी को पीस—पीस कर उड़ाये दे रहा है और लू जलते हुए व्यक्ति की तरह चित्कार करती हुई, इस कोने से उस कोने में दौड़ती फिरती, तब हाथ में आँखों पर ओट किये हुए रगधू के जल्दी—जल्दी उठते हुए पैर मुझे भाड़ में नाचते हुए दानों का स्मरण दिलाते थे। पर अलोपी पलकें मूँदकर आँखों के अन्धकार को भीतर ही बन्दी बनाता हुआ अपने हर पग को इतनी धीरता से जलती धरती पर रखता था, मानो उसके हृदय की ताप नापता हो। बसन्त हो या होली, दशहरा हो या दीवाली, अलोपी के नियम में कोई व्यतिक्रम कभी नहीं देखा गया।

एक बार जब अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिन्दु—मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब अलोपी पहले से दुगनी बड़ी डलिया में न जाने क्या—क्या भरे और एक बड़ी गठर रगधू की पीठ पर

लादे, सुनसान रास्ते से आ पहुँचा। उसके दुस्साहस ने मुझे विस्मित न करके क्रोधित कर दिया। 'तुम हृदय के भी अन्धे हो, ऐसी अन्धेरी गलियों में प्राण देकर कुछ स्वर्ग नहीं पहुँच जाओगे' आदि—आदि स्वागत—वचनों के उत्तर में अलोपी बैंगन—लौकी टटोलने लगा। मेरे आँगन में तरकारियों का टीला निर्माण कर वह वैसे ही मूक—भाव से छात्रावास की ओर चल दिया। वहाँ से लौटकर जब वह सूखी आँखें पोंछता और ठिठकता—सा सामने आ खड़ा हुआ, तब मेरा क्रोध बरस कर मिट चुका था और मन में ममता की सजलता व्याप्त थी।

मेरे कण्ठ में आश्वासन का स्वर पहचानकर उसने रुक—रुक कर बताया कि वह दो दिन के लिए तरकारियाँ ले आया है। मेट्रन से उसे ज्ञात हो गया था कि उनके भंडार—घर के आचार समाप्त हो चुके हैं और बड़ियों में फफूँदी लग गई है। केवल दाल से तो अलोपी जैसे व्यक्ति ही रोटी खा सकते हैं, अतः वह देहात से यह सब खरीद कर बेचता—बेचता यहाँ आ पहुँचा। उस बिना आँखों वाले आदमी को कौन सतायेगा; पर जब मेरी आज्ञा नहीं है, तब फिर यह झगड़ा समाप्त हो ही जायेगा। अलोपी को ऐसे समय भी रोक रखना सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि बूढ़ी माँ की रक्षा का भार उस पर था।

मैं बरामदे में हूँ या नहीं, यह अलोपी देख न सकता था; पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसने आते—जाते उस दिशा में नमस्कार न कर लिया हो।

अनेक बार मैंने खाली डलिया के साथ नीम के नीचे बैठ अलोपी को भक्ति न से बहुत मनोयोग पूर्वक बातें करते देखा था। वार्तालाप का विषय भी कम महत्वपूर्ण नहीं रहता था। मुझे करेला अच्छा लगता है या कटहल, कचनार की

कली पसन्द है या सहजन की फली, मेथी का साग रुचिकर होता है या पालक का, मीठा निंबू लाभदायक है या सन्तरा, आदि प्रश्नों पर गम्भीरता से वाद-विवाद चलता। एक बार की घटना अपनी क्षुद्रता में भी मेरे लिए बहुत गुरु है। मैं ज्वर से पीड़ित थी। कई दिनों तक बरामदे को नमस्कार कर अलोपी ने रगधू से कहा—‘जान पड़ता है इस बार गुरुजी बहुत गुस्सा हो गयी हैं। पहले की तरह कुछ पूछती ही नहीं;’ पर जब उसे जब ज्ञात हुआ कि मैं बीमारी के कारण बाहर आ ही नहीं सकती, तब वह बहुत चिन्तित हो उठा।

दूसरे दिन सन्देश मिला कि अलोपी मुझे देखने की आज्ञा चाहता है। उतने कष्ट के समय भी मुझे हँसी आये बिना न रह सकी। अन्धा अलोपी असंख्य बार आज्ञा पाकर भी मुझे देखने में समर्थ कैसे हो सकता था। पर भीतर आया और नमस्कार कर टटोलता-टटोलता देहली के पास बैठ गया। फिर अपनी धुँधली, शून्य आँखों की आर्दता बाँह से पोंछकर पिछौरी के छोर में लगी एक गाँठ खोलते हुए उसने अपराधी की मुद्रा से बताया कि वह स्वयं जाकर अलोपी देवी की विभूति लाया है। एक चुटकी जीभ पर रख ली जाय और एक माथे पर लगा ली जाय, तो सब रोग-दोष दूर हो जायेगा। कहने की इच्छा हुई— जब देवी तुम्हारा पूरा न कर सकीं, तब मेरा क्या करेंगी; पर उनके वरदान की गम्भीरता ने मुख से कुछ न निकलने दिया। अलोपीदेवी की दिव्यता प्रमाणित करने के लिए अलोपीदीन का कर्तव्य में वज्र और ममता में मोम के समान हृदय ही पर्यास होना चाहिए। उसके निकट जिसका परिचय स्वर-समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, उस व्यक्ति के प्रति इतनी सहानुभूति भूलने की वस्तु

नहीं।

अलोपी को हमारे यहाँ आये तीसरा वर्ष चल रहा था। उसका भरा हुआ—सा कंकाल कुरते से सज गया, सिर पर जब—तब साफा सुशोभित होने लगा और ऊँची धोती कुछ नीचे सरक आयी साधारणतः महिने में 70 रुपए से कुछ अधिक की ही शाक—तरकारियाँ आती थीं। दाम चुकाकर और रग्धू को कुछ देकर भी अलोपी के पास इतना बच रहता था, जिससे वह अपनी माँ के साथ सुख से रह सके। और एक दिन तो रग्धू ने हँसते—हँसते बताया कि दादा का रूपया उसकी माई गाड़कर रखने लगी है।

अलोपी के अन्धेरे जीवन का उपसंहार भी कम अन्धकारमय न हो, इसका समुचित विधाता कर चुका था। एक दिन मेरे निकट बैठकर अपने—आप से संसार—चर्चा करती हुई भक्तिन ने सुनाया—अलोपी अपना घर बसा रहा है। मैं इतनी विस्मित हुई कि भक्तिन की कथाओं के प्रति सदा की उपेक्षा भूलकर ‘क्या’ कह उठी और तब भक्तिन ने उसी प्रसन्न—मुद्रा में मेरी ओर देखा, जिससे भीष्म ने रथ का पहिया ले दौड़ने वाले कृष्ण को देखा होगा। पता चला, उसके कथन का प्रत्येक अक्षर बिना मिलावट का सत्य है।

एक काछिन, जो दो पतियों को मुक्ति दे आई है, अन्धे के लिए स्वर्ग की रचना करना चाहती है; पर अलोपी की माँ अपने वरदान में मिले पुत्र को अब फिर दान में देना स्वीकार नहीं करती।

गर्मियों की छुट्टियों के बाद लौटकर सुना कि अलोपी की माँ अलग रहने लगी और नयी पत्नी ने आकर घर संभाल लिया। फिर एक बार उसे देखने का अवसर भी मिला।

मझोले कद की सुगठित शरीर वाली प्रौढ़ा थी। देखने में साधारण—सी लगी; पर उसके कण्ठ में ऐसा लोच और स्वर में ऐसा आत्मीयता भरा निमन्त्रण था, जो किसी को भी आकर्षित किये बिना नहीं रहता, और कुछ विशेष चमकदार आँखों में चालाकी के साथ—साथ ऐसी कठोरता झलक जाती थी, जो उस पर विश्वास करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य कर देती थी। अलोपी उसे कण्ठ स्वर से ही जानता था, इसी से कदाचित् वह विश्वास कर सका।

रगधू का घर भेदिया था; इसी से सब जान गये कि उसकी नई भौजी को रूपये की चर्चा के अतिरिक्त और कोई चर्चा नहीं सुहाती। कभी वह जानना चाहती है कि अलोपी ने गाढ़े दिन के लिए कुछ बचा रखा है या नहीं, कभी पूछती है कि उसके पछेली और झुमके किस कोने में गाढ़ कर रख दिए जायँ।

अलोपी इस ढहते हुए स्वर्ग में छः महिने रह सका। फिर सुना कि उसकी चतुर पत्नी सब कुछ लेकर उसे मायापाश से सदा के मुक्ति दे गई है।

वह बेचारा तो कई दिन तक विश्वास ही न कर सका। खुदे गड्ढे को टटोल टटोलकर देखता और फिर द्वार पर बैठकर उसकी प्रतिक्षा करने लगता है।

जब परोपकारी पड़ोसियों ने उसके विश्वास की शिला को युक्तियों की एक—से—एक मर्म भेदी सुरंगों से उड़ा दिया, तब वह बीमार पड़ गया। पर निरन्तर कर्मयोग से दीक्षित पुलिस को यह शुभ समाचार देने की चर्चा चलते ही वह प्रशान्त निराशा—भरी दृढ़ता से कहने लगता—‘अपनी स्त्री की हुलिया लिखवाकर पकड़ मँगाना नीच का काम है।’

अलोपी कुछ अच्छा होने पर आने लगा; पर उसमें पहले जैसा जीवन नहीं रह गया था। पैर घसीट—घसीट कर चलता, हाथ से लाठी छूट—छूट पड़ती। एक बार मेरे बरामदे की दिशा में नमस्कार करते समय छाबड़ी नीचे आ रही। अलोपी के सब साहस, सम्पूर्ण उत्साह और समस्त आत्मविश्वास को संसार का एक विश्वास घात निगल गया है, यह होने पर भी कल्पना—जैसे जान पड़ता है।

अन्धे का दुःख गुँगा होकर आया था, अतः सान्त्वना देनेवाले उसके हृदय तक पहुँचने का मार्ग ही न पा सकते थे। मेरे बोलते ही वह लज्जा से इस तरह सिकुड़ जाता, मानों उसके चारों ओर ओले बरस रहे हों, इसी से विशेष कुछ कह—सुनकर उसका संकोचजनित कष्ट बढ़ाना मैंने उचित न समझा। पर, अपने अपराध से अनजान और अकारण दण्ड की कठोरता से अवाक बालक—जैसे अलोपी के चारों ओर जो अँधेरी छाया गिर रही थी, उसने मुझे चिन्तित कर दिया।

उसकी माँ बड़ी मानता से प्राप्त अन्धे पुत्र का सब अपराध भूल गया थी, पर हठी पुत्र ने अपने—आपको क्षमा नहीं किया, अतः उन दोनों का वह करुण—मधुर अतीत फिर न लौट सका।

मैं दशहरे का अवकाश घर ही पर बिता रही थी। अलोपी एक दिन तरकारियाँ देकर सन्ध्या समय तक मेस ही में बैठा रहा। कभी बड़ी ममता से तराजू को छूकर देखता, कभी बड़े स्लेह से पूई की धनुषाकार पीठ को सहलाता और कभी विनोद से छोटी बालिकाओं को चिढ़ाने लगता। फिर जाते समय मेरी कुत्ती फलोरा को अपनी पिछौरी में बँधे मुरमुरे देकर, हिरणी सोना को मूली की पत्तियाँ खिलाकर और मेरे

बरामदे को नमस्कार कर जो गया, तो कभी नहीं लौटा ।

तीसरे दिन रोने से सूजी आँखों वाले रग्धू ने समाचार दिया कि उसका अन्धा दादा बिना उसे साथ लिए ही न जाने किस अज्ञात लोक की महायात्रा पर चल पड़ा ।

ऐसे ही अचानक तो वह यहाँ भी आ पहुँचा था, इसी से विश्वास होता है कि वह बिना भटके ही अपने गन्तव्य तक पहुँच जायेगा ।

बालक रग्धू के लिए दूसरे काम का प्रबन्ध कर मैंने अलोपी के शेष स्मारक पर विस्मृति की यवनिका डाल दी है; पर आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानों एक छायामूर्ति में पुंजीभूत होने लगती है। फिर धीरे-धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमें मुझे कच्चे काँच की गोलियाँ जैसे निष्प्रभ आँखें भी दिखाई पड़ती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसूओं की रेखा का आभास भी मिलने लगता है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ—नियति के व्यंग से जीवन और संसार के छल से मृत्यु पाने वाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा?

घायल वसन्त

हरिशंकर परसाई

लेखक परिचय

हिन्दी साहित्य के जाने-माने व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई(1924–95) का जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के जमानी गाँव में हुआ। परसाई नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए तक की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त कुछ समय तक अध्यापन कार्य करते रहे। कालांतर में नौकरी से ऊबकर उन्होंने स्वतंत्र लेखन और पत्रकारिता को अपनाया। ‘वसुधा’ नामक साहित्यिक पत्रिका का संपादन तथा प्रकाशन शुरू किया था, किन्तु आर्थिक कठनाईयों के कारण इस पत्रिका के प्रकाशन को स्थगित करना पड़ा था। कुछ समय तक ‘देशबन्धु’ दैनिक में सम्पादकीय सलाहकार बने रहे। ‘नई कहानियाँ’ में ‘पाँचवाँ कॉलम’, ‘नई दुनियाँ’ में ‘सुनो भाई साधो’ के रूप में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में वर्षों तक नियमित स्तंभ लिखते रहे। इनकी निर्बाध साहित्य सेवा के उपलक्ष्य में जबलपुर विश्वविद्यालय ने इन्हें डी.लिट मानद उपाधि प्रदान की।

गद्य की लगभग सभी विधाओं पर समान अधिकार रखते हुए भी व्यंग्य निबन्धकार की हैसियत से परसाई जी लोकप्रिय हुए हैं। राजनीति, धर्म, समाज, आर्थिक शैक्षिक, चिकित्सा, राग-विराग, प्रेम-प्रणय ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जो

परसाई के प्रखर तथा तीखे बाण—प्रहार से चूक गये हों। इनकी सरल और सुलझी हुई जीवन—दृष्टि समाज में व्यापक भ्रष्टाचार, ढोंग, अंधविश्वास, सांप्रदायिकता, अवसरवादिता इत्यादि विसंगतियों, कृत्रिमताओं और कुरीतियों पर रोशनी डालने के लिए सदैव सतर्क रहती है। परसाई की सामाजिक प्रतिबद्धता के सबन्ध में लिखा गया है कि 'इनके कहने का ढंग चाहे जितना हल्का—फुल्का हो, परन्तु हर निबंध सोद्देश्य है और आज की जटिल परिस्थितियों को समझने के लिए एक अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

प्रमुख रचनाएँ :

कहानी संग्रह : 'हँसते हैं रोते हैं', 'जैसे उनके दिन फिर'।

उपन्यास : तट की खोज, रानी नागफनी की कहानी।

व्यंग्य निबंध : तब की बात और थी, भूत के पाँव पीछे, बेर्झमानी की परत, वैष्णव की फिसलन, पगड़ंडियों का जमाना, शिकायत मुझे भी है, सदाचार की तावीज, विकलांग श्रद्धा का दौर।

संस्मरनात्मक निबंध : हम एक उम्र से वाकिफ हैं, जाने पहचाने लोग।

कल वसन्तोत्सव था। कवि वसन्त के आगमन की सूचना दे रहा था 'प्रिय, फिर आया मादक वसन्त'।

मैंने सोचा, जिसे वसन्त के आने का बोध भी अपनी तरफ से करना पड़े, उस प्रिय से तो शत्रु अच्छा है। ऐसे

नासमझ को प्रकृति-विज्ञान पढ़ायेंगे या उससे प्यार करेंगे
मगर कवि को न जाने क्यों ऐसा बेवकूफ पसंद आता है।

कवि मग्न होकर गा रहा था
'प्रिय, फिर आया मादक वसन्त'

पहली पंक्ति सुनते ही मैं समझ गया इस कविता का 'हा हंत' से होगा और हुआ। अन्त, सन्त, दिगन्त आदि के बाद सिवा 'हा हंत' के कौन पद पूरा करता? तुक की यही मजबूरी है। लीक के छोर पर यही गहरा गाढ़ा होता है। तुक की गुलामी करोगे तो आरम्भ चाहे 'वसन्त' से कर लो, अन्त जरुर 'हा हंत' से होगा। सिर्फ कवि ऐसा नहीं करता और लोग भी, सयाने लोग भी इस चक्र में होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में तुक पर तुक बिठाते चलते हैं और वसन्त से शुरू करके 'हा हंत' तक पहुँचते हैं। तुकें बराबर फिट बैठती हैं, पर जीवन का आवेग निकल भागता है। तुकें हमारा पीछा छोड़ नहीं रही हैं। हाल ही में समाजवादी सरकार के अर्थमन्त्री ने दबा सोना निकलवाने की जो अपील की, उसकी तुक शुद्ध सर्वोदय से मिलायी—'सोना दबाने वालों, देश के लिए स्वेच्छा से सोना दे दो।' तुक उत्तम प्रकार की थी; साँप तक का दिल नहीं दुखा। पर सोना चार हाथ और नीचे चला गया। आखिल कब हम तुक को तिलांजलि देंगे? कब हम बेतुका चलने की हिम्मत करेंगे।

कवि ने कविता समाप्त कर दी थी। उसका 'हा हंत' आ गया था। मैंने कहा, धत्तेरे की! सात तुकों में ही टें बोल गया। राष्ट्रकवि इस पर कम-से-कम इक्यावन तुकें बाँधते हैं। नौ तुकें तो उन्होंने 'चक्र' पर बाँधी हैं (देखो 'यशोधरा' पृष्ठ. 13)। पर तू मुझे क्या बतायेगा कि वसन्त आ गया। मुझे

तो सवेरे से ही मालुम है। सवेरे वसन्त ने मेरा दरवाजा भी खटखटाया था। मैं रजाई ओढ़े सो रहा था मैंने पूछा—‘कौन?’ जवाब आया—‘मैं वसन्त।’ मैं घबरा उठा। जिस दुकान से सामान उधार लेता हूँ, उसके नौकर का नाम भी वसन्तलाल है। वह उधारी वसूल करने आया था। कैसा नाम है, और कैसा काम करना पड़ता है इसे! इसका नाम पतझड़दास या तुषारदास होना चाहिए। वसन्त अगर उधारी वसूल करते फिरता है, तो किसी दिन आनन्दकर थानेदार मुझे गिरफ्तार करके ले जायेगा और अमृतलाल जल्लाद फाँसी पर लटका देगा!

वसन्तलाल ने मेरा मुहूर्त बिगाड़ दिया। इधर से कहीं ऋतुराज वसन्त निकलता होगा, तो वह सोचेगा कि ऐसे के पास क्या जान जिसके दरवाजे पर सवेरे से उधारी वाले खड़े रहते हैं। इस वसन्तलाल ने मेरा मौसम ही खराब कर दिया।

मैंने उसे टाला और फिर ओढ़ कर सो गया। आँखें झँप गयी। मुझे लगा दरवाजे पर फिर दस्तक हुई। मैंने पूछा—‘कौन?’ जवाब आया—‘मैं वसन्त।’ मैं खीझ उठा ‘कह तो दिया कि फिर आना।’ उधर से जवाब आया ‘मैं बार-बार कब तक आता रहूँगा? मैं किसी बनिये का नौकर नहीं हूँ; ऋतुराज वसन्त हूँ। आज तुम्हारे ब्दार पर फिर आया हूँ और तुम फिर सोते मिले हो। अजान, अभाग, उठ बाहर तो देख। ढूढ़ों ने भी नव पल्लव पहन रखें हैं। तुम्हारे सामने की प्रौढ़ा नीम तक नवोढ़ा सी हाव-भाव कर रही है और बहुत भद्दी लग रही है।’

मैंने मुँह उधाड़ कर कहा, ‘भई, माफ करना, मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। अपनी यही विडम्बना है कि ऋतुराज वसन्त भी

आये, तो लगता है उधारी के तगादे वाला आया : उमंगे तो मेरे मन में भी हैं, पर यार ठंड बहुत लगती है।' वह जाने के लिए मुँड़ा। मैंने कहा, 'जाते—जाते एक छोटा—सा काम मेरा करते जाना। सुना है तुम ऊबाड़—खाबाड़ चेहरे को चिकना कर देते हो; 'फेसलिफिटंग' के कारीगर हो तुम। तो जरा यार, मेरी सीढ़ी करते जाना, उखड़ गयी है।'

उसे बुरा लगा। बुरा लगने की बात है। जो सुन्दरियों के चेहरे सुधारने का कारीगर है, उसे मैंने सीढ़ी सुधारने के लिए कहा। वह चला गया।

मैं उठा और शाल लपेट कर बरामदे में आया। हजारों सालों के संचित संस्कार मेरे मन पर लदे हैं; टनों—कवि—कल्पनाएँ जमी हैं। सोचा वसन्त में तो कोयल होगी ही। पर न कोयल दिखी न उसकी कूक सुनाई दी। सामने की हवेली के कंगूरे पर बैठा कौआ 'काँव—काँव' कर उठा। काला, कुरुप, कर्कश, कौआ—मेरी सौन्दर्य—भावना को ठेस लगी। मैंने उसे भागाने के लिए कंकड़ उठाया। तभी ख्याल आया कि एक परम्परा ने कौए को भी प्रतिष्ठा दे दी है : यह विरहिणी को प्रियतम के आगमन का संदेशा देने वाला माना जाता है। सोचा, कहीं यह आसपास की किसी विरहिणी को प्रिय के आने का सगुन न बता रहा हो। मैं विरहिणियों के रास्ते कभी नहीं आता; पतिव्रताओं से तो बहुत डरता हूँ। मैंने कंकड़ डाल दिया। कौआ फिर बोला। नायिका ने सोने से उसकी चोंच मढ़ाने का वादा कर दिया होगा। शाम की गाड़ी से अगर नायक दौरे से वापस आ गया, तो कल नायिका बाजार से आने वाले सामान की जो सूची उसके हाथ में देगी, उसमें दो तोले सोना भी लिखा होगा। नायक पूछेगा— 'प्रिय, सोना तो

अब काला बाजार में मिलता है। लेकिन अब तुम सोने का करोगी क्या?’ नायिका लजाकर कहेगी— ‘उस कौए की चोंच मढ़ानी है, जो कल सबेरे तुम्हारे आने का सगुन बता गया था।’ तब नायक कहेगा— ‘प्रिय तुम बहुत भोली हो। मेरे दौरे का कार्यक्रम यह कौआ थोड़े—ही बनाता है; वह कौआ बनाता है जिसे हम ‘बड़ा साहब’ कहते हैं। इस कलूटे की चोंच सोने से क्यों मढ़ाती हो? हमारी दुर्दशा का यही कारण है कि तमाम कौए सोने से चोंच मढ़ाये हैं, और इधर हमारे पास हथियार खरीदने को सोना नहीं है। हमें तो कौओं की चोंच से खरोंच लेना है। जो आनाकानी करेंगे, उनकी चोंच काटकर सोना निकाल लेंगे। प्रिये, वह बड़ल गलत परम्परा है जिसमें हंस और मोर की चोंच तो नंगी रहे, पर कौए की चोंच पर सुन्दरी खुद सोना मढ़े।’ नायिका चुप हो जायेगी। स्वर्ण नियंत्रण कानून से सबसे ज्यादा नुकसान कौओं और विरहणियों का हुआ है। अगर कौए ने चौदह कैरेट के सोने से चोंच मढ़ाना स्वीकार नहीं किया, तो विरहणी को प्रिय के आगमन की सूचना कौन देगा?

कौआ फिर बोला। मैं इससे युगों से घृणा करता हूँ। तब से, जब इसने सीता के पाँवों में चोंच मारी थी। राम ने अपने हाथ से फूल चुनकर, उनके आभूषण बनाकर सीता को पहनाये। इसी समय इन्द्र का बिगड़ेल बेटा जयन्त आवारागर्दी करता वहाँ आया और कौआ बन कर सीता के पाँव में चोंच मारने लगा। ये बड़े आदमी के बिगड़ेल लड़के हमेशा दूसरों का प्रेम बिगाड़ते हैं। यह कौआ भी मुझसे नाराज है, क्योंकि अपने घर के झरोखें में गौरयों को घोंसले बना लेने दिए हैं। पर इस मौसम में कोयल कहाँ है? वह अमराई में होगी।

कोयल से अमराई छूटती नहीं है, इसलिए इस वसन्त में कौए की बन आयी है, वह तो मौकापरस्त है; घुसने के लिए पोल ढूँढ़ता है। कोयल ने उसे जगह दे दी है। वह अमराई के छाया में आराम से बैठी है। और इधर हर ऊँचाई पर कौआ बैठा 'काँव—काँव' कर रहा है। मुझे कोयल के पक्ष में उदास पुरातन प्रेमियों की आह भी सुनाई देती है— 'हाय, अब वे अमराइयाँ यहाँ कहाँ हैं कि कोयलें बोलें। यहाँ तो यह शहर बस गये हैं और कारखाने बन गये हैं।' मैं कहता हूँ कि सर्वत्र अमराइयाँ नहीं हैं तो ठीक नहीं हैं। आखिर हम कब तक जंगली बने रहते? मगर अमराई और कुंज और बगीचे भी हमें प्यारे हैं। हम कारखाने को अमराई से घेर देंगे और हर मुहळे में बगीचा लगा देंगे। अभी थोड़ी देर है, पर कोयल को धीरज के साथ हमारा साथ देना था। कुछ दिन धूप तो हमारे साथ सहनी थी। जिसने धूप में साथ नहीं दिया, वह छाया में कैसे हाथ बँटाएगी? जब हम अमराई बना लेंगे, तब क्या वह उसमें रह सकेगी? नहीं तब तक तो कौए अमराई पर भी कब्ज़ा कर लेंगे। कोयल को अभी आना चाहिए। अभी जब हम मिटटी खोदें, पानी सींचे और खाद दें, तभी से उसे गाना चाहिए।

कौआ फिर बोला। विरहिणी की भावना का ख्याल करके मैं सह रहा हूँ। मैं बाहर निकल पड़ता हूँ। चौराहे पर पहली बसन्ती साड़ी दिखी। मैं उसे जानता हूँ। यौवन की एड़ी दिख रही है— वह जा रहा है— वह जा रहा है। अभी कुछ महिने पहले ही शादी हुई है। मैं तो कहता आ रहा था कि चाहे कभी ले, 'सखी री यह डाल वसन वासंती लेगी'— (निराला)। उसने वसन वासंती ले लिया। कुछ हजार में उसे यह बूढ़ा हो रहा

पति मिल गया। वह भी उसके साहित्य है। वसन्त का अन्तिम चरण और पतझड़ साथ जा रहे हैं। उसने माँग में बहुत—सा सिन्दूर चुपड़ रखा है। जिसकी जितनी मुश्किल से शादी होती है, वह बेचारी उतनी ही बड़ी माँग भरती है। उसने बड़े अभिमान से मेरी तरफ देखा। फिर पति को देखा, उसकी नजर में ठसक और ताना है, जैसे अँगूठा दिखा रही है किले, मुझे तो यह मिल ही गया। मगर यह क्या? वह ठण्ड से काँप रही है और 'सीसी' कर रही है। वसन्त में वासन्ती साड़ी की कँपकँपी छूट रही है।

यह कैसा वसन्त है जो शीत के डर से काँप रहा है। क्या कहा था विद्यापति ने 'सरस वसन्त समय भर पाओलि दछिन पवन बहु धीरे!' नहीं मेरे कवि आ रही है। हिमालय के उस पास से आकर उस बर्फीली हवा ने हमारे वसन्त का गला दबा दिया है। हिमालय के पार बहुत—सी बर्फ बनायी जा रही है। जिसमें सारी मनुष्य जाति को मछली की तरह जमा कर रखा जायेगा। यह बड़ी भारी साजिश है—बर्फ की साजिश! इसी बर्फ की हवा ने हमारे आते वसन्त को दबा रखा है।

यों हमें विश्वास है कि वसन्त आयेगा। शैली ने कहा— अगर शीत आ गयी है, तो क्या वसन्त बहुत पीछे होगा? वसन्त तो शीत के पीछे लगा हुआ ही आ रहा है। पर उसके पीछे गरमी भी तो लगी है। अभी उत्तर से शीत—लहर आ रही है तो फिर पश्चिम से लू भी चल सकती है। बर्फ और आग के बीच में हमारा वसन्त फँसा है। इधर शीत उसे दबा रही है और उधर से गरमी। और वसन्त सिकुड़ता जा रहा है।

मौसम की मेहरबानी पर भरोसा करेंगे, तो शीत से निपटते—निपटते लू तंग करने लगेगी। मौसम के इन्तजार से

कुछ नहीं होगा। वसन्त अपने आप नहीं आता; उसे लाया जाता है। सहज आने वाला तो पतझड़ होता है, वसन्त नहीं। अपने आप तो पत्ते झड़ते हैं। नये पत्ते तो वृक्ष का प्राणरस पीकर पैदा होते हैं। वसन्त यों नहीं आता। शीत और गरमी के बीच से जो जितना वसन्त निकाल सके, निकाल ले। दो पाटों के बीच में फँसा है, देश का वसन्त। पाट और आगे खिसक रहे हैं। वसन्त को बचाना है तो जोर लगा कर इन दोनों पाटों पीछे ढकेलो—इधर शीत को, उधर गरमी को। तब बीच में से निकलेगा हमारा धायल वसन्त।

पीछे मत फेंकिये

बाल मुकुंद गुस

लेखक परिचय

श्री बालमुकुंद गुस (1865–1907) हिन्दी पत्रकारिता के आलोक-स्तंभ थे। उन्होंने हिन्दी बंगवासी, हिन्दोस्थान, भारत प्रताप एवं भारत-मित्र-पत्रिकाओं के संपादक के नाते खड़ी बोली गद्य का निर्माण किया था। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के शब्दों में उनका पत्रिका कार्यालय हिन्दी शब्दों का टकसाल हुआ करता था। आचार्य महावीर प्रसाद विद्वेदी ने गुस जी को अपने समय के श्रेष्ठतम् गद्य लेखक की खिताब दी थी। गुस जी ने समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और भाषिक विषयों की बड़ी सूक्ष्ता से विश्लेषण करके निझर होकर अपने विचारों को व्यंग्यपूर्ण शैली में व्यक्त किये थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अभिप्राय में 'उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे से रहते थे। विचारों की गरिमा, भाषा की प्रवाहमयता, व्यंग्य का पुट और मुहावरों की फुहार—उनके निबंधों की विशेषताएँ थीं।

गुस जी ने प्रस्तुत लेख में अंग्रेजों की प्रतिभा की दाद देते हुए भारतीयों की सर्वतोमुखी मेधा को रेखांकित किया है। भारत अपार संपदा का जिक्र करते हुए, विदेशियों की लूटमार और कुछ स्वदेशियों की दासता एवं साधारण जनता

की विवशता को प्रकट किया है। लेखक ने गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन को एक प्रजारंजक शासक बनने का आव्हान करते हुए, उन्हें अपने कर्तव्य-बोध से अवगत कराया है।

प्रमुख रचनाएँ : शिवशंभु के चिट्ठे, चिट्ठी और खत, हिन्दी भाषा, स्फुट कविता आदि।

माई लार्ड ! सौ साल पूरे होने में अभी कई महीनों की कसर है। उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनी ने लार्ड कार्नवालिस को दूसरी बार इस देश का गवर्नर—जनरल बनाकर भेजा था। तब से अब तक आप ही को भारतवर्ष का फिर से शासक बनकर आने का अवसर मिला है। सौ वर्ष पहले के उस समय की ओर एक बार दृष्टि कीजिये। तब में और अब में कितना अंतर हो गया है, क्या से क्या हो गया है? जागता हुआ रंक अति चिन्ता का मारा सो जावे और स्वप्न में अपने को राजा देखें, द्वार पर हाथी झूमते देखें अथवा अलिफलैला के अबुलहसन की भाँति कोई तरल युवक प्याले पर उड़ाता घर में बेहोश हो और जागने पर आँखें मलते—मलते अपने को बगदाद का खलीफा देखें, आलीशान सजे महल की शोभा उसे चक्कर में डाल दे, सुन्दरी दासियों के जेवर और कामदार वस्त्रों की चमक उसकी आँखों में चकाचौंध लगा दे तथा सुन्दर बाजों और गीतों की मधुर ध्वनि उसके कानों में अमृत ढालने लगे, तब भी उसे शायद आश्चर्य न हो जितना सौ साल पहले की भारत में अंग्रेजी राज्य की दशा को आजकल की दशा के साथ मिलाने से हो सकता है।

जुलाई सन 1805 ई. में लार्ड कार्नवालिस दूसरी

बार भारत के गवर्नर जनरल होकर कलकत्ते में पधारे थे उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार पर चारों ओर से चिन्ताओं की भरमार हो रही थी, आशंकाएं उसे दम लेने नहीं देती थी। हुलकर से एक नई लड़ाई होने को थी, सेन्धिया से लड़ाई चलती थी। खजाने में बरकत ही बरकत थी। जमीन का कर वसूल होने में बहुत देर थी। युद्धस्थल में लड़नेवाली सेनाओं को पाँच—पाँच महीने से तनखाह नहीं मिली थी। विलायत के धनियों में कम्पनी का कुछ विश्वास न था। सत्तर साल का बूढ़ा गवर्नर जनरल यह सब बातें देखकर घबराया हुआ था। उससे केवल यही बन पड़ा कि दूसरी बार पदारूढ़ होने के तीन ही मास पीछे गाजीपुर में जाकर प्राण दे दिया। कई दिन तक इस बात की खबर भी लोगों ने नहीं जानी। आज विलायत से भारत तक दिन में कई बार तार दौड़ जाता है। कई एक घंटों में सिमले से कलकत्ते तक स्पेशल ट्रेन पार हो जाती है। उस समय कलकत्ते से गाजीपुर तक जाने में बड़े लाट को कितने ही दिन लगे थे। गाजीपुर में उनके लिये कलकत्ते से जल्द किसी प्रकार की सहायता पहुँचने का कुछ उपाय न था।

किन्तु अब कुछ और ही समय है। माई लार्ड! लार्ड कार्नवालिस के दूसरी बार गवर्नर जनरल होकर भारत में आने और आपके दूसरी बार आने में बड़ा अन्तर है। प्रताप आपके साथ—साथ है। अंग्रेजी राज्य के भाग्य का सूर्य मध्यान्ह में है। उस समय के बड़े लाट को जितने दिन कलकत्ते से गाजीपुर जाने में लगे होंगे, आप उनसे कम दिनों में विलायत से भारत में पहुँच गये। लार्ड कार्नवालिस को आते ही दो एक देशी रईसों के साथ लड़ाई करने की चिन्ता थी,

आपके स्वागत के लिए कोड़ियों राजा, रईस बम्बई दौड़े गये और जहाज से उतरते ही उन्होंने आपका स्वागत करके अपने भाग्य को धन्य समझा। कितने ही बधाई देने कलकत्ते पहुँचे और कितने और चले आ रहे हैं। प्रजा की चाहे कैसी ही दशा हो, पर खजाने में रुपये उबल पड़ते हैं। इसके लिए चारों ओर से आपकी बड़ाई होती है। साख इस समय की गवर्नर्मेण्ट की इतनी है कि विलायत में या भारत में एक बार 'हूँ' करते ही रुपये की वर्षा होने लगती है। विलायती मन्त्री आपकी मुटठी में है। विलायत जिस कन्सरवेटिव गवर्नर्मेण्ट ने आपको इस देश का वैसराय किया, वह अभी तक बराबर शासन की मालिक है। लिबरल निर्जीव हैं। जान ब्राइट, ग्लाडस्टोन, ब्राडला, जैसे लोगों से विलायत शून्य है, इससे अप परम स्वतंत्र हैं। इण्डिया आफिस आपके हाथ की पुतली है। विलायत के प्रधानमंत्री आपके प्रिय मित्र है। जो कुछ आपको करना है वह विलायत में कई मास रहकर पहले ही वहां के शासकों से निश्चय कर चुके हैं। अभी आपकी चढ़ती उमर है। चिन्ता कुछ नहीं है। जो कुछ चिन्ता थी, वह भी जल्दी मिट गई है। स्वयं आपकी विलायत के बड़े भारी बुद्धिमानों और राजनीति-विशारदों में गिनती है, वरंच कह सकते हैं कि विलायत के मंत्री लोग आपकी मुँह की ओर ताकते हैं। समाट का आप पर बहुत भारी विश्वास है। विलायत के प्रधान समाचारपत्र मानों आपके बन्दीजन हैं। बीच-बीच में आपका गुणग्राम सुनाना पुण्यकार्य समझते हैं। सारांश यह है कि लार्ड कार्नवालिस के समय और आपके समय में बड़ा ही भेद हो गया है।

संसार में अंग्रेजी प्रताप अखण्ड है। भारत के राजा

अब आपके हुक्म के बन्दे हैं। उनको लेकर चाहे जुलूस निकालिये, चाहे दरबार बनाकर सलाम कराइये, उन्हें चाहे विलायत भिजवाइये, चाहे कलकत्ते बुलवाइये, जो चाहे सो कीजिये वह हाजिर है। आपके हुक्म की तेजी तिष्ण्वत के पहाड़ों की बरफ को पिघलाती है, फारिस की खाड़ी का जल सुखाती है, काबुल के पहाड़ों को नर्म करती है। जल, स्थल, वायु और आकाशमण्डल में सर्वत्र आपकी विजय है। इस धराधाम अब अंग्रेजी प्रताप के आगे कोई उंगली उठानेवाला नहीं है। इस देश में एक महाप्रतापी राजा के प्रताप का वर्णन इस प्रकार किया जाता था कि इन्द्र उसके यहाँ जल भरता था, पवन उसके यहाँ चक्षी चलाता था, चाँद सूरज उसके यहाँ रोशनी करते थे, इत्यादि। पर अंग्रेजी प्रताप उससे भी बढ़ गया है। समुद्र अंग्रेजी राज्य का मलाह है, पहाड़ों की उपत्याकाएँ बैठने के लिए कुर्सी—मूढ़े। बिजली कले चलाने वाली दासी और हजारों मील खबर लेकर उड़ने वाली दूती, इत्यादि इत्यादि।

आश्चर्य माई लार्ड। एक सौ साल में अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी प्रताप की तो इतनी उन्नति होने पर उसी प्रतापई ब्रिटिश राज्य के अधीन रहकर भारत अपनी रही सही हैसित भी खपा दे। इस अपार उन्नति के समय में आप जैसे शासक के जी में भारतवासियों को आगे बढ़ आने की जगह पीछे धकेलने की इच्छा उत्पन्न हो। उनका हौसला बढ़ाने की जगह उनकी हिम्मत तोड़ने में आप अपनी बुद्धि का अपव्यय करें। जिस जाति से पुरानी कोई जाति इस धराधाम पर मौजुद नहीं, जो हजार साल से अधिक की घोर पराधीनता सहकर भी लुस नहीं हुई, जीती है, जिसकी पुरानी सभ्यता और विध्या

की आलोचना करके विद्वान और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं जिसने सदियों इस पृथ्वी पर अखण्ड-शासन करके सभ्यता और मनुष्यत्व का प्रचार किया, वह जाति क्या पीछे हटाने और धूल में मिला देने के योग्य है? आप जैसे उच्च श्रेणी के विद्वान के जी में यह बात कैसे समाई कि भारतवासी बहुत से काम करने योग्य नहीं और उनको आपके सजातीय ही कर सकते हैं? आप परीक्षा करके देखिये कि भारतवासी सचमुच उन ऊँचे से ऊँचे कामों को कर सकते हैं या नहीं, जिनको आपके सजातीय कर सकते हैं। श्रम में, बुद्धि में, विध्या में काम में, वकृता में, सहिष्णुता में, किसी बात में इस देश के निवासी संसार किसी जाति के आदमियों से पीछे रहनेवाले नहीं हैं। वरं दो एक गुण भारतवासियों में ऐसे हैं कि संसार भर में किसी जाति के लोग उनका अनुकरण नहीं कर सकते। हिन्दुस्तानी फारसी पढ़के ठीक फारसी वालों की भाँति बोल सकते हैं, कविता कर सकते हैं। अंग्रेजी बोलने में वह अंग्रेजों की पूरी नकल कर सकते हैं, कण्ठ तालू को अंग्रेजों के सदृश बना सकते हैं। पर एक भी अंग्रेज ऐसा नहीं है जो हिन्दुस्तानियों की भाँति साफ हिन्दी बोल सकता हो। किसी बात में हिन्दुस्तानी पीछे रहने वाले नहीं है। हां दो बातों में वह अंग्रेजी की नकल या बराबरी नहीं कर सकते हैं। एक तो अपने शरीर के काले रंग को अंग्रेजी की भाँति गोरा नहीं बना सकते और दूसरे अपने भाग्य को उनके भाग्य में रगड़कर बराबर नहीं कर सकते।

किन्तु इस संसार के आरम्भ में बड़ा भारी पार्थक्य होने पर भी अन्त में बड़ी भारी एकता है। समय अन्त में सबको अपने मार्ग पर ले आता है। देशपति राजा और भिक्षा

मांगकर पेट भरनेवाले कंगाल का परिणाम एक ही होता है। मुझी, मुझी में मिल जाती है और यह जीते जी लुभाने वाली दुनिया यहीं रह जाती है। कितने ही शासक और कितने ही नरेश इस पृथ्वी पर हो गये, आज उनका कहीं पता निशान नहीं है। थोड़े-थोड़े दिन अपनी अपनी नौपत बजा गये, चले गये। बड़ी तलाश से इतिहास के पन्नों अथवा टूटे फूटे खण्डहरों में उनके दो चार चिन्ह मिल जाते हैं। माई लार्ड। बीते हुए समय को फिर लौटा लेने की शक्ति किसी में नहीं है, आप में भी नहीं है। दूर की बात दूर रहे, इन पिछले सौ साल ही में कितने बड़े लाट आये और चले गये। क्या उनका समय फिर लौट सकता है? कदापि नहीं। विचारिये तो मानो कल आप आये थे, किन्तु छः साल बीत गये। अब दूसरी बार आने के बाद भी कितने ही दिन बित गये तथा बीत जाते हैं। इसी प्रकार उमरें बीत जावेंगी, युग बीत जावेंगे। समय के महासमुद्र में मनुष्य की आयु एक छोटी सी बूँद की भी बराबरी नहीं कर सकती। आप में शक्ति नहीं है कि पिछले छः वर्षों को लौटा सकें या उनमें जो कुछ हुआ है उसे अन्यथा कर सकें। दो साल आपके हाथ में आवश्य हैं। इनमें जो चाहे कर सकते हैं। चाहे तो इस देश की 30 करोड़ प्रजा को अपनी अनुरक्त बना सकते हैं और इस देश के इतिहास में अच्छे वैसरायों में अपना नाम छोड़ जा सकते हैं। नहीं तो यह समय भी बीत जावेगा और फिर आपका करने धरने का अधिकार ही कुछ न रहेगा।

विक्रम, अशोक, अकबर, की यह भूमि साथ नहीं गई। औरंगजेब, अलाउद्दीन इसे मुझी में दबा कर नहीं रख सके। महमूद, तैमूर और नादिर, इसे लूट के माल के साथ ऊंटों

और हाथियों पर लादकर न ले जा सके। आगे भी यह किसी के साथ न जावेगी, चाहे कोई कितनी ही मजबूती क्यों न करे। इस समय भगवान ने इसे एक और ही जात के हाथ में अर्पण किया है, जिसकी बुद्धि, विद्या और प्रताप का संसार भर में डंका बज रहा है। माई लार्ड। उसी जाति की ओर से आप इस देश की 30 करोड़ प्रजा के शासक हैं।

अब यह विचारना आप ही के जिम्मे है कि इस देश की प्रजा के साथ आपका क्या कर्तव्य है।

हजार साल से यह प्रजा गिरी दशा में है। क्या आप चाहते हैं कि यह और भी सौ पचास साल गिरती चली जावे? इसके गिराने में बड़े से बड़ा इतना ही लाभ है कि कुछ संकीर्ण हृदय शासकों की यथेच्छाचारिता कुछ दिन और चल सकती है। किन्तु इसके उठाने और सम्हालने में जो लाभ हैं, उनकी तुलना नहीं हो सकती है। इतिहास में सदा नाम रहेगा कि अंग्रेजी ने एक गिरी जाति के तीस करोड़ आदमियों को उठाया था। माई लार्ड! दोनों जो बात पसन्द हो, वह कर सकते हैं। कहिये क्या पसन्द है? पीछे हटाना या आगे बढ़ाना?

जीवन अपनी देहरी पर

विद्यानिवास मिश्र

लेखक परिचय

डॉ. विद्यानिवास मिश्र का जन्म उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के पकड़ीहा गाँव में 28 जनवरी, 1926 ई. को हुआ। इन्होंने इंटरमीडियट तक की शिक्षा गोरखपुर में ग्रहण की और उसके बाद इलाहाबाद चले गये। सन 1945 ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद सन 1946 ई. में गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी से साहित्य शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्यापन-कार्य के साथ-साथ अध्ययन करते हुए सन 1964 ई. में गोरखपुर विश्वविद्यालय से पी.एच.डी की उपाधि प्राप्त की।

डॉ. मिश्र ने देश-विदेश के अनेक स्थानों पर शिक्षण कार्य किया। सन 1957 ई. से सन 1968 ई. तक गोरखपुर विश्वविद्यालय में कार्य किया। इसी बीच सन 1960-61 ई. में तथा सन 1967-68 ई. के दौरान क्रमशः अमेरिका के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालय में भी कार्य किया। सन 1968 ई. से 1977 ई. तक संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान एवं आधुनिक भाषा विज्ञान विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष रहे। सन 1977 ई. में ये के. एम मुनशी हिन्दी शोध

संस्थान के निदेशक के नियुक्त हो गये तथा सेवानिवृत्त होने तक यही कार्य किया।

डॉ. मिश्र का लेखन बहुविधि है, लेकिन उनकी ख्याति के मूल आधार निबंध तथा भाषाविज्ञान साहित्य ही है। निबंध लेखन के क्षेत्र में इनके आदर्श हजारी प्रसाद द्विवेदी है। शास्त्रीयता के साथ-साथ लोक-संस्कृति के समन्वय ने इनके निबंधों को अत्यंत जीवन बना दिया है। निबंधों का रूप-विधान भी सदैव एक न रहकर यथावसर बदलता रहा है। कभी उसने पत्र का रूप ले लिया है तो कभी संस्मरणों का इस्तमाल करते हुए प्रवाह का सर्वत्र का ध्यान रखा गया है। लोक-जीवन से जुड़े निबंधों में आँचलिकता विशेषता भोजपुरी का पुट अनायास आ गया है। गद्यकार के साथ-साथ कवि भी होने के कारण इनकी रचनाओं में काव्यात्मक तरलता सहजरूपेण संगुम्फित हो उठी है।

प्रमुख कृतियाँ : 'स्वरूप-विमर्श', 'कितने मोरचे', 'गांधी का वरुण रस', 'चिड़िया रैन बसेरा', 'छितवन की छाँव', 'तुलसीदास भक्ति प्रबन्ध का नया उत्कर्ष', 'थोड़ी सी जगह दे', 'फागुन दुई रे दिना', 'भारतीय संस्कृति के आधार', 'सपने कहाँ गये', 'साहित्य के सरोकार', 'हिन्दी साहित्य का पुनरावलोकन' आदि।

सम्मान : पद्मभूषण, पद्मश्री तथा अन्य पुरस्कार।

जीवन को प्यार के साथ वरण करने वाले आदमी को मृत्यु का पता नहीं क्यों सबसे ज्यादा लुभाने की कोशिश करती है। अर्नेस्ट हेमिंगवे जैसा लेखक जो युद्ध को इसलिए नकारता है कि जीवन का घनघोर विनाश है, आत्महत्या के लिए प्रेरित होता है। जिन्दगी के रंगों की पहचान करने—कराने वाला वैन गो जैसा चित्रकार छुरे से अपनी गरदन पर वार करने को ललचाता है। जीवन—भर कर्म करते रहने के दर्शन के व्याख्याता कुमारिल प्रयाग में डूबकर मरने में जीवन की निष्कृति पाते हैं। इनसे लगता है कि मृत्यु उसी के पीछे पड़ती है जो जीने का रस लेता है, दूसरों को रस देता है या शायद मृत्यु का प्रलोभन जीवन की परीक्षा है। ऐसी परीक्षा से गुजरते रहना रचनाकार की विशेष नियति है, क्योंकि हर रचना मृत्यु होती है, पर पूरी मृत्यु नहीं होती, रचनाकार कुछ—न—कुछ अवशिष्ट रह जाता है, बल्कि यों कहे, जो अवशिष्ट रह जाता है वह रचनाकार नहीं है, वह पुरी तरह टूटा हुआ व्यक्ति है। जितनी बड़ी रचना करके आदमी बचता है। उतना ही अधिक टूटकर बाहर निकलता है। रचनाकार के रूप में वह ध्वस्त हो जाता है।

तुलसीदास का 'हनुमान बाहुक' कोई पढ़े तो पता चलेगा कि 'विनय—पत्रिका' की रचना करने के बाद कवि कितना शीर्ण हुआ। कवि 'रामचरितमानस' के बाद टूटा तो बहुत दिनों में उसने अपने अपने को जोड़ा, जाने कितना व्यथाओं से विनतियों से और तब 'विनय—पत्रिका' लिखी नहीं कि गोसाई जी एकदम ध्वस्त हो गए। बाहु में पीड़ा होती है और उनको लगता है !

पाँय पीर पेट पीर बाँह मुँह पीर

जरजर सकल सरीर पीर भई है।
 देव भूत पितर काम खल काल ग्रह
 मोहित पर खवाई भयानक—सी दई है॥
 हौं तो बिना मोल के बिकानो बलिबारे ही तें
 ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
 कुंभज के किंकर विकल बुड़े गोखुरनि
 हाय राम राम ऐसी हाल कहूँ भई है॥

सारा शरीर पीड़ामय हो गया है, लगता है, देव, भूत,
 पितर, दुष्कर्म, काल और दुष्टग्रह सभी एक हो गए हैं कि इस
 आदमी को मारो, यह आदमी जो बचपन से अपने को राम के
 हाथ बिना मोल बिका मानता आया है और अपने भाग्य में राम
 नाम का लेख टँका मानकर इतना निश्चिन्त रहा है। समुद्र पीने
 वाले अगस्त्य के सेवक को गाय की खुर की छाप से बने गङ्गे
 में डुबाकर मारो।

यह तो बड़ा गुरुर होगा कि तुलसी का उद्धरण देकर
 अपनी बात शुरू करूँ और अपने को उस पंक्ति में बैठाने की
 कोशिश करूँ, पर भूड़ोल आता है तो केवल अटारियाँ ही नहीं
 ढहतीं, छोटी झोंपड़ी भी ध्वस्त हो जाती हैं। झोंपड़ी का अटारी
 से कोई मुकाबला नहीं, लेकिन ढहते समय दोनों दयनीय हो
 जाते हैं।

अटारी के ढहने का धमाका जोरदार होता है, झोंपड़ी
 का गिरना कोई नहीं देख पाता। मैं अपने को झोंपड़ी की
 स्थिति में पाता हूँ तो तुलसी का स्मरण करके कुछ इतराना
 चाहता हूँ। एक राजा साहब का हाथी मरा, उनके पड़ोस में
 एक गरीब आदमी रहता था, सोचा राजा का हाथी बड़ा
 शानदार था, शोक प्रकट कर आएँ, गया—सरकार क्या

कीजिएगा, कालीवस्तु न आपको सहती है, न मुझे। मेरी काली कुतिया थी, कल मर गई। काली चीज राजा साहब को या गरीब पड़ोसी को ही नहीं, किसी रचनाकार को नहीं सहती। अहंकार काला होता है, रचनाकार इस अहंकार को पालता है, इसे बड़ा लाड़ देता है, प्यार देता है, इसे बिगाड़ता है, एक दिन यकायक उसका अहंकार रचना की नदी पार करते समय गिरता है, दलदल में धँस जाता है, उस दलदल में तड़प—तड़प कर वह मरता है, रचनाकार उसे बचाना चाहता है पर बचा नहीं पाता। उसमें जाने के बाद वह अनुभव करता है, मैं अहंकार के बल पर ही तो चल रहा था, वह बल टूट गया।

मेरी काली कुतिया थी, बड़ी वफादार और बड़ी ढीठ। वह काफी इतराने लगी थी। छाया की तरह पीछे—पीछे लगी रहती थी और इधर तो आगे जाकर राह दिखाने लगी थी। मैं भी सोचता था, कितना ही भाग्यहीन होऊँ, स्वाभिमान तो है, जो बराबर साथ देता है, जो ऐसे रास्ते पर नहीं जाने देता जहाँ मुझे नीचा दिखाना पड़े उसे पहले से आभास रहता है। इस स्वाभिमान में एक आत्मविश्वास बैठा हुआ है कि तुम्हारा स्व छोटा नहीं, बड़ा है, वह अनचीन्हा नहीं है, चीन्हारी ने उसे बड़ा बना दिया है। और यह अहंकार की कुतिया इतनी प्रिय, इतनी आत्मीय एक दिन यकायक पुल के किनारे खड़ी थी, उसके किनारे के टूटते ही जाने कहाँ वह बिला गई!

पर मैंने 'विनय—पत्रिका' नहीं लिखी थी, कुछ भी लिखने लायक नहीं लिखा था, बस लिखूँ, यह संकल्प ले रहा था। अभिमान ऐसा कि शंकराचार्य पर लिखना चाह रहा था। शंकर के 'तत्त्वमसि' अनुभव को छूना चाहता था, उनकी

जन्मभूमि कालडि गया, उनको नित्य नहलाने वाली नदी पेरियार को हाथ से छुआ। हाथ में उस नदी को लिया, ओठों से उसका आचमन किया, आँखों शितल कीं, सिर धोया। ओंकारेश्वर गया, शंकर ने यहाँ दीक्षा ली थी, नर्मदा ओंकार का आकार ग्रहण करती है और उसकी दो धाराओं के बीच में एक टीला है, उसी पर ओंकारेश्वर का ज्योतिर्लिंग का मंदिर है, उसमें जाने कैसे नर्मदा का पानी बराबर आता रहता है। शिव को बोरे रहता है। ओंकारेश्वर गया था तो कार्तिक की पुनो थी, सहालग के दिन शुरू हो गये थे। नाव से नर्मदा पार की, देखा, इधर का रिवाज है कि जिस कन्या का विवाह होने को होता है, उसे उसके परिवार की स्त्रियाँ सजा—बजाकर ओंकरेश्वर के स्थान पर ले जाती हैं, गाती—बजाती हुई।

मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ रहा था तो कुछ टोलियाँ उतर रही थीं, कुछ चढ़ रही थीं, गीत के बोल जैसे एक आवर्त बनकर घूम रहे थे। उनकी पुनो की उजास, मालवा के कंठ की मिठास और सहज गाँव की शोभा के शिवर्पित होने का हुलास, इन सबमें लगता था कि शंकर का तत्वमसि ही रूपायित और शब्दायित हो रहा हो। यह सब तुम हो और तुम हो तो मैं नहीं है। मैं सहज अनुभव की इतनी ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ नहीं पाता, नीचे ही ठीठक जाता हूँ, उसके पास कहाँ ऐसा कंठ, कहाँ ऐसी शोभा और कहाँ ऐसी उजास!

बहुत अंतराल के बाद बदरीनाथ गया। सुना था, शंकर ने नर—नारायण की मूर्ति का उद्धार किया था। उन्होंने वहाँ व्यास गुफा में बैठकर ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्य लिखा था। और तीन ही दिनों में लगा कि शंकर यही अद्वैत वेदान्त को भाषा दे सकते थे, और केवल शंकर ही, काशी के

चाण्डाल के रूपधारी विश्वनाथ से हारे हुए शंकर, इस भू-बैकुंठ में नर और नारायण का जोड़ बैठा सकते थे। नर के भीतर से नारायण को और नारायण की आँखों में से नर को झाँकते देख सकते थे। शंकर ने सुदूर दक्षिण से सुदूर उत्तर तक एक महासत्ता का प्रवाह देखा था, हर एक व्यक्ति में वह गूँगा हो तो क्या, मुखर हो तो क्या, एक चैतन्य की पश्यन्ती भाषा की प्रतिध्वनि सुनी थी, मिट्टी के कण—कण उन्होंने सूँधा था, श्रीपति के चरण कमलों के पराग की गंध उन्होंने पाई थी, उन्होंने प्राण के स्पंदन में, पवन की हिलोर में, झाँझा की झकोर में एक ही स्पर्श पाया था—न ठंडा, न गरम, न रुखा, न मुलायम, बस ऐसा कि रोम—रोम बज उठे। शंकर ने कितनी नदियों का, कितने घाटों का पानी पिया था, इतना पिया था कि वे स्वयं उत्तरगामिनी गंगा हो गये, हिन्दुस्तान के चार धाम शंकर की दी हुई प्रतिष्ठा के कारण इतने बड़े धाम हैं, उनकी परिक्रमा आदमी के लिए मुक्ति की परिक्रमा है—मुक्ति छोटे देश से, प्रदेश से, अधिष्ठान से। हर पानी में उन्होंने अमृत चखा, अमृत जो सबका है।

बदरीनारायण की यात्रा से लौटा, मैंने अभिमानवश परीक्षा लेनी चाही कि शंकर को मैं अब रच पाऊँगा या नहीं और लगा कि मैं जहाँ बड़े उल्लास के साथ, अभिमान उस गर्त में गिर पड़ा, उसके साथ ही चिपका हुआ शंकर के तीर्थों के यात्री के अनुभव का अभिमान भी गिर पड़ा। जाने कहाँ गया तत्वमसि, जाने कहाँ गया 'जामे व्यय न समाहि'। लगा यह सब झूठ है, संसार को प्रपञ्च कहना, एक ही सत्ता का अस्तित्व देखना, एक ही भाव के लिए सबको अभिमुख और आकुल देखना— सब भ्रमजाल है। मेरा तीर्थ यात्री भाव या कोई भी

भाव सब झूठ है, भाव कहीं है ही नहीं, है। सच है केवल टीकाव, सच है सुरक्षा के छोटे-छोटे दुर्ग के चारों ओर की परिखा और परिखा को घेरे हुए काँटीले झाड़ों की बाड़। आदमी भी उतना ही सच है, जितना इनसे धिरा हुआ है।

फिर लौट के आता हूँ मूल प्रश्न पर, जीना किसलिए? संशय के लिए, द्वैत के लिए, छोटे-छोटे वंचना के दुर्गा ने लिए, चौड़ी खाई के लिए, काँटेदार बाड़ों के लिए? महज जीने के लिए जीना बड़ा वैसा लगता है और मरना अपने लिए, अपनी दुराशा के लिए, अपनी यंत्रणा के लिए और भी वैसे लगता है। भवभूति में जनक के शोक को व्यक्त करते हुए कहा कि जो मेरी संतान का अपमान हुआ, उनके निर्वासित करने का भीषण अपराध हुआ, उससे ऐसा घाव हुआ है जो बराबर नया होता रहता है। जैसे कोई आरे से मर्मस्थल को धीरे-धीरे चीर रहा हो। मुझे भी कुछ वैसा ही लगता है, बल्कि लगता है, हजार हजार आरे लगे हुए हों, हजार जगह निरंतर चीरा जा रहा हूँ।

समझ नहीं पा रहा कि कौन-सा टुकड़ा है जहाँ मैं बचा हुआ हूँ या जहाँ मेरी सम्भावना बची हुई!

शंकर पर पुस्तक लिखने के लिए कितना कुछ कटना है, छँटना है, समझ में नहीं आता क्योंकि पुस्तक प्रकाशक के तगादे के बावजूद चल नहीं रही है, अटकी हुई है।

ममता और अहंता के विनाश को प्रतिपादन करने वाले को माँ की ममता के वशीभूत क्यों होना और मंडन की पत्नी भारती के प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्हें अमरुक क्यों होना पड़ा? क्या अद्वैत एक अधूरा सिद्धान्त है? ममता न होती तो माँ की अन्त्येष्टि वे क्यों करते और अहंता न होती तो

परकायप्रदेश करके एक प्रेमिक राजा क्यों बनते? ऐसे शंकर को मेरे जैसा आदमी कैसे रचे, जिसकी ममता और अहन्ता के जर्रे जर्रे हो गए हों तो भी वे सभी अपने—अपने तार—तार जीवन को नचा रहे हों।

मैंने एक रचना और अधूरी रख छोड़ी है, 'विष्वल पल आखिरी', श्रीकृष्ण के जीवन की अन्तिम सन्ध्या का एक संश्लिष्ट चित्र। उस चित्र में तने रंग भरने हैं कि समझ में नहीं आता कैसे उनका अनुपात रखूँ! और श्रीकृष्ण उस समय विष्वल हैं भी कि नहीं, यह भी निर्णय नहीं ले पाया। शीर्षक ही दुविधा में है। पर मुझे यही लगता है, विष्वल न होते तो अपने प्रिय मित्र उद्धव को पहले ही विदा न दे देते, न अपने सारथी को जबरन व्दारका भेज देते, न वधिक जरा को ही तत्काल पुण्यलोक देकर अपने पास से दूर भेज देते। कहीं—न—कहीं ऐसी बेकली थी, जिसका कोई साक्षी नहीं रहने देना चाहते थे। कहीं—न—कहीं घोर आंगिरस की बात चुभ रही है। 'प्राणक्षीणतमसि', ऐसा सोचो कि तुम्हारे प्राण चीरे जा रहे हैं, तब जीवन का रहस्य समझोगे, पूरे जीवन को यज्ञ समझो, अमावस्या में जैसे चन्द्रमा सूर्य में समा जाता है, चन्द्रमा मरकर अमृतकला को प्राप्त करता है, वैसे ही जीवन को खाली करो, खाली करके भरने की प्रक्रिया शुरू करो। एक जीवन को अनुष्टानिक मृत्यु के रूप में साधो, जीवन के प्रत्येक खंड को सोम की पेराई के रूप में देखो। पहली पेराई होती है बड़े तड़के, तब पत्ती हरी हो जाती है, रस एकदम ताजा— तब उसमें मादन होता भी है तो तत्काल उत्तर जाता है। दूसरी पेराई होती है मध्यान्ह में, पत्ती गरमा जाती है, रस कुछ कम हो जाता है, पर मादन भाव तीव्र हो जाता है। तीसरी पेराई

होती है शाम को, पत्ती एकदम सूख जाती है, रस बूँद—बूँद रह जाता है, पर तलछट का नशा बड़ा गहरा होता है। जीवन को दूसरों के आस्वादन के लिए ऐसे ही पेरते रहो और मृत्यु आए तो मानों अनुष्ठान पूरा हुआ, अब यज्ञ—समाप्ति (अवभृथ) का स्नान करना है। एक—एक बूँद नीचोड़ ली गई है, पत्तियों को फिर से धोकर गारना बच रहा है।

श्रीकृष्ण निश्चय ही अपने गुरु के इस उपदेश और उसके अनुसार जिये गए जीवन की मिमांसा करते—करते विष्वल हुए होंगे। पूरी पेराई हुई कहाँ, पूरा रस निचुड़ा कहाँ, पत्तियाँ अब भी हरी हैं, इन्हें क्यों धोएँ? एक—एक गोपी ने श्रीकृष्ण—रस जितना लिया, जितना पिया, उससे हजार गुना श्रीकृष्ण को रस दिया, पिलाया, पेराई तो गोपी की हो गई, श्रीकृष्ण की हुई कहाँ? और श्रीकृष्ण की पत्तियों में इतनी पत्तियाँ मिली कि कौन वाली सूखी, कौन वाली हरी रह, इसका निर्णय करना कठिन हो गया।

श्रीकृष्ण सोचते हैं, इतनी निर्ममता का अभ्यास मैंने किया, इतने रिश्ते मैंने तोड़ पर क्या मैं निर्मम हो सका? और सोचते हैं, इसी को लीला कहा जाएगा।

फिर अटक जाता हूँ, श्रीकृष्ण को बेधक हँसी अटका देती है। एक पेड़ की जड़ पर सिर टेके रक्तस्त्राव से एकदम पीले पड़ते हुए श्रीकृष्ण क्यों हँस रहे हैं! मेरे सर्व—शक्तिशाली शरीर में मेरे चरण सबसे अधिक शक्तिशाली कि उनसे गंगा की धार फूट जाती है, और वे इतने वेध्य कि मामूली—सा तीर लगता है, पाँव का तलवा चिर जाता है। यदुकुल के मद का जो लौह खंड चूर्ण नहीं बना, टुकड़े के रूप में छिटक गया, वही तो श्रीकृष्ण को बींधने वाला तीर बना और श्रीकृष्ण इसी

बात पर हँस पड़ते हैं कि मैं अपने संकल्प का, कि मदमत्त यदुकुल का विनाश कर डालूँ नहीं तो पृथ्वी इस भार के सँभाल नहीं सकेगी खुद शिकार हो गया श्रीकृष्ण की हँसी के कारण यह रचना भी अधूरी पड़ी है।

और अब लगता है कि मैं जितना ही इन्हें पूरा करना चाहूँगा उतना ही और खंडित होता जाऊँगा। बाणभट्ट की भाँति हर यायावर रचनाकार की यही नियति है। रचना पूरी नहीं होती व्यक्ति पूरा नहीं होता। बस पूरी होने की खामखयाली में अधूरा, और अधूरा होता जाता है। न पेराई ही पूरी होती है, न रस ही पूरा निचुड़ता है, न अवभृत ऋन ही कोई आशा की सम्भावना का संकेत देता है।

कैसा विधाता है जो पेराई की यंत्रणा भी पूरी होने नहीं देता! कितनी बार यह कोल्हू का चक्र काटेगा, कब तक चक्र काटेगा, कुछ भी अंदाज नहीं लगता और बत्तीसवें वर्ष में जीवनलीला—संवरण करनेवाले, शंकर एक सौ पच्चीसवें वर्ष में महाप्रयाण करनेवाले श्रीकृष्ण हँस रहे हैं, एक और हारा, एक और टूटा, संसार ने एक नया सावज मारा। उनकी हँसी की कल्पना मात्र से तिलमिला उठता हूँ और जीवन का हारा—थका धूलि धूसर देहरी पर लौट आता है।
